UNIVERSAL LIBRARY

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली—

तीसरी बार : १९४७

मूल्य
बारह आना

मुद्रक
अमरचंद्र
राजहंस प्रेस
दिल्ली, १३-४७

दो बातें

यह छोटी-सी पुस्तक रूस के जगद्वंद्य महात्मा टॉल्स्टॉय की एक अद्भुत कृति है। इसमें उस बीमारी का सुन्दर निदान और चिकित्सा है जो संसार में फैली हुई है, और जिसके लिए हमारे कितने ही भाई इस देश में लालायित हैं। सामाजिक विषमता और सत्तावाद से उत्पन्न होने वाली बुराइयों पर इसमें इतनी स्पष्ट रीति से विचार किया गया है कि जितना शायद ही किसी और ने किया हो। सरकारों का ऐसा नग्न, किन्तु यथार्थ चित्र खड़ा कर दिया है कि जिसे हमने भी कभी नहीं देखा था। पर वे यहीं न ठहरे। इस विषमता और बुराई से समाज को मुक्त करने का एक अनुपम रास्ता भी उन्होंने इसी में बता दिया है। रास्ते वही हैं जिस पर महात्मा जी इस देश में अमल कर रहे हैं।

इन सब विशेषताओं को देखते हुए यह पुस्तक सार्वभौम और सार्वकालिक महत्त्व रखती है। स्पष्ट विचार, मौलिकता, ओज और गहरी भीगी हुई मानव-हितेच्छा इत्यादि बातों में यह अन्तिम है। इतने वर्ष के अपूर्व आन्दोलन के बाद भी जिन्होंने भारत की समस्या न समझी हो, उसकी दुर्दशा का पूरा-पूरा ख्याल न कर सकते हों, महात्माजी के आन्दोलन का रहस्य और चरखे का मर्म न समझे हों, मुझे विश्वास है, यह किताब उनकी खूब सहायता करेगी।

इसका विषय इतना महत्त्वपूर्ण है, शैली इतनी हृदयंगम है, और प्रदेश ऐसा रमणीय है कि पाठकों को शायद ही इस बात का ख्याल हो पायेगा कि वे किस बेढंगी सवारी पर सवार हो इस दिव्य प्रदेश की यात्रा

कर रहे हैं। किन्तु इतने पर भी यदि कोई शब्द, कोई गलत मुहावरा, कोई रचना-दोष या वाक्य-प्रयोग उन्हें कहीं खटका भी तो, मैं आशा करता हूँ, वे उदारतापूर्वक मुझे क्षमा करेंगे।

महात्मा टॉलस्टॉय की इस अप्रतिम पुस्तक का अनुवाद करना सच-मुच मेरे लिए है तो एक अनधिकार-चेष्टा ही, परन्तु यहां तो युद्ध-काल है। माता की मुक्ति के लिए हम सब व्याकुल हैं। एक-एक क्षण अनंत गर्भ हैं। घड़ी-घड़ी पर चालें बदली जा रही हैं, प्रतिदिन कोई-न-कोई किला या प्रदेश दोनों ओर से हारा या जीता जा रहा हैं। आग लगी है; उसकी लपलपाती हुई ज्वालायें यहां-वहां नीचे-ऊपर दौड़-दौड़कर हमारे भवन को भस्मसात् करने को हैं। पर उसके अन्दर एक बीमारी भी हैं, जिसकी बीमारी पल-पल पर बढ़ती जा रही है। किसी-न-किसी नये और भीषण रोग के लक्षण प्रतिक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ऐसे समय कोई सहृदय मनुष्य अधिकार-अनधिकार चेष्टा का विचार करते हुए कैसे अलग खड़ा रह सकता है। उसका हृदय कहता है इस समय तुझसे जो-कुछ भी बन पड़े करने लग जा। खड़ा न रह। सहृदय पाठक वृन्द, मेरी यह अनधि-कार-चेष्टा इसी आन्तरिक प्रेरणा का पालन है।

भगवती शारदा के मन्दिर को सुशोभित करना, उसके भव्य भवन को नाना रत्नों से जगमगा देना मेरा उद्देश्य नहीं है। उसके लिए तो देश में उस कला-कौशलमयी माता के कई पुजारी मौजूद ही हैं। मेरा यह प्रयास है उस युद्ध में कुछ सहायक होना, उस भयंकर आग में अपनी शक्ति के अनुसार एक-आध घड़ा पानी डाल देना। मेरा प्रयास है उस मरीज की, थोड़ी-सी ही क्यों न हो, सेवा-शुश्रुषा करना। साहित्य-मंडल नहीं, देश-प्रेम मुझे इस अनधिकार-चेष्टा में प्रेरित कर रहा है और आशा है कि पाठक मुझे इस साहस के लिए जरूर क्षमा करेंगे।

वैजनाथ महोदय

प्रकाशकीय

'हमारे जमाने की गुलामी' का यह संस्करण सन् १९३२ के बाद १९४७ में---१५ वर्ष बाद प्रकाशित हो रहा है; क्योंकि सन् १९३२ में अजमेर-मेरवाड़ा की सरकार ने---राजद्रोहात्मक करार देकर इसे जब्त कर लिया था। अन्तरिम सरकार के स्थापित होने के बाद दिसंबर १९४६ में अजमेर-मेरवाड़ा की सरकार ने वह जब्ती हमारे लिखने पर उठा ली। पंद्रह वर्ष के बाद भी, इस पुस्तक का नया संस्करण, आज के समय में पाठकों को दिलचस्प और संग्रहणीय मालूम होगा और आशा है पाठक उत्साह से इसे अपनावेंगे।

---मंत्री

सूची

१. हमारे जमाने की गुलामी — १
२. वर्तमान पद्धति का विज्ञान-द्वारा समर्थन — ४
३. यंत्रालय —१ — ७
४. यंत्रालय—२ — १३
५. साम्यादर्श का दिवाला — १६
६. सुधार अथवा स्वाधीनता — २३
७. गुलामी की जड़ हमारे भीतर है — २७
८. गुलामी क्या है ? — ३३
९. जमीन, जायदाद और कर-संबंधी कानून — ३६
१०. गुलामी की जड़—कानून — ४४
११. सुसंगठित हिंसा कानूनों की जननी है — ४९
१२. सरकारें क्या हैं ? — ५४
१३. सरकारें कैसे उठाई जायं ? — ६४
१४. प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य — ७६
१५. अंतिम कथन — ८६

: १ :

अंगरेज लेखक अंकों का हिसाब लगाकर इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि उच्च वर्गों के लोगों की औसत उम्र करीब पचपन वर्ष होती है; और अस्वास्थ्यकर पेशा करने वाले मजदूरों की उम्र उन्तीस वर्ष। इस यथार्थ सत्य से हम अपनी आंखें नहीं मूंद सकते।

इस प्राण-नाशक परिश्रम से हम प्रतिदिन लाभ उठाते रहते हैं। अतः यदि हम पशु नहीं हैं तो यह जान लेने पर हमें एक क्षण-भर भी चैन न पड़नी चाहिए। पर बात ठीक इसके विपरीत है। हम सम्पन्न लोग उदारता और भूत-दया के हिमायती—जो न केवल मनुष्य के दुःखों से बल्कि अन्य प्राणियों के दुःखों से भी दुखी हो जाते हैं, इस परिश्रम का अविरत उपयोग करते रहते हैं और उत्तरोत्तर अधिकाधिक धन एकत्र करने की कोशिश करते हैं अर्थात् ऐसे कामों से अधिकाधिक लाभ उठाते हैं। और विशेषता यह है कि इससे हमें जरा भी कष्ट नहीं होता। एक उदाहरण लीजिए। हमें ज्ञात होता है कि रेल में काम करने वाले कुछ मजदूर सैंतीस-सैंतीस घण्टे काम करते हैं और गन्दे स्थानों में रह रहे हैं। हम फौरन एक निरीक्षक को, जो काफी तनख्वाह पाता है, इसकी तहकीकात करने के लिए भेजते हैं। हम उन्हें बारह घंटे से अधिक काम करने से मना कर देते हैं। और (उनकी आय के इस तरह एक तिहाई

घट जाने पर भी) उन्हें खूब खाने-पीने और अपना जीवन अच्छी तरह व्यतीत करने के लिए छोड़ देते हैं। साथ ही हम रेलवे कंपनी को इन मजदूरों के रहने के लिए एक बड़ा-सा सुविधा-जनक मकान बनाने के लिए भी मजबूर करते हैं। अब खूब निश्चिन्त हो मजे में हम पुनः उस रेल से माल भेजना और मंगाना शुरू कर देते हैं और अपनी तनख्वाहें, मुनाफा और जमीन तथा मकानों का किराया उसी तरह वसूल करने लग जाते हैं। पर जब हम सुनते हैं, बल्कि देखते भी हैं कि स्त्रियाँ और लड़कियाँ अपने घर-बार छोड़-छोड़ रेशम की मिलों में आकर काम करती हैं, और अपना तथा अपने बच्चों का जीवन नष्ट करती हैं, हम जानते हैं कि अधिकांश धोबिनें, जो हमारे कपड़ों को धो-धो कर कलफ चढ़ाती और इस्तरी करती हैं, क्षयी होकर मर जाती हैं; हम यह भी जानते हैं कि दिन में चन्द मिनटों के लिए हमारा दिल बहलाने वाले अखबारों को कम्पोज करने और छापनेवाले बेचारे कम्पोजीटर भी इसी भीषण रोग के शिकार हो-होकर असमय काल-कवलित होते हैं, तब यह जान लेने पर भी हम मुंह बनाकर केवल इतना ही कहकर रह जाते हैं कि ऐसा होता है तो बड़े दुःख की बात है; किन्तु हमारे किये क्या हो सकता है। हमारे दिल पर उसका कुछ असर ही नहीं होता। हम उसी तरह उन मिलों के बने कपड़े खरीदते रहते हैं, उसी तरह इस्तरीदार धुले कपड़े पहनते रहते हैं और उसी प्रकार पहले की भांति अखबारों से अपना दिल भी बहलाया करते हैं। हमें इसकी बड़ी चिन्ता होती है कि दूकानों पर काम करने वाले मुनीमों को कहीं अधिक समय तक काम तो नहीं करना पड़ता। इससे भी अधिक चिन्ता होती है हमें अपने बच्चों की, जो देर-देर तक पाठशालाओं में पढते रहते हैं। हम इक्के और गाडी वालों को

अधिक सवारियां बैठालने से मना करते हैं; जिससे घोड़े और बैलों को अधिक कष्ट न होने पावे। इतना ही नहीं, बल्कि इस गरज से कि बूचड़-खानों में मारे जाने वाले प्राणियों को मरण-वेदनायें अधिक न होने पावें, उनकी हत्या करने के अच्छे-से-अच्छे और सुधरे हुए उपायों की खोज भी करते रहते हैं। पर ज्यों ही उन गरीब मजदूरों का सवाल हमारे सामने आता है हम एकदम आश्चर्य-जनक रीति से अन्धे हो जाते हैं। बेचारे मजदूर, अनेक यातनायें भोगकर, परिश्रम करके बरबाद होते रहते हैं और हम उस परिश्रम का फल अपने भोग-विलासों में लगाते हैं—आनन्द करते रहते हैं।

: २ :

वर्त्तमान पद्धति का विज्ञान द्वारा समर्थन

हम लोगों के इस आश्चर्य-जनक अन्वेषण की मीमांसा केवल एक ही प्रकार से की जा सकती है। जब लोग दुराचारी हो जाते हैं तब वे अपने दुराचार का समर्थन करने के लिए एक तत्त्व-ज्ञान का आविष्कार करते हैं। वे उसकी सहायता से साबित करते हैं कि उनका दुराचार वास्तव में दुराचार ही नहीं, बल्कि ऐसे नियमों का परिणाम है जिनको बदल देना हमारी शक्ति से बाहर है। यह बात प्राचीन काल से चली आई है। तब कहा जाता था कि परमात्मा की लीला अपरंपार है, अपरिवर्त्तनीय है। वह अपनी इच्छा के अनुसार किसी को राजा बना देता है और किसी को रंक, किसी के भाग्य में लिख देता है कि वह दरिद्र ही बना रहे, नित्य कठिन परिश्रम करके अपना पेट पालता रहे और किसी को वैभव के उच्च-तम शिखर पर बैठा देता है।

इसी विषय पर ढेरों किताबें लिखी गईं और अगणित व्याख्यान तथा उपदेश भी दिये गये। यथासंभव प्रत्येक दृष्टि से इस विषय को विशद किया गया, बताया गया कि परमात्मा ने ही अमीर और गरीब— मालिक और गुलाम— भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग बनाये हैं। इनको

अपनी-अपनी परिस्थिति से सन्तुष्ट रहना चाहिए। यह भी कहा गया कि गुलामों को इसका बदला परलोक में मिल जायगा। लोगों को समझाया गया कि यद्यपि गुलाम गुलाम ही रहेंगे, और उन्हें गुलाम रहना भी चाहिए, तथापि यदि मालिक उनके साथ दयापूर्ण व्यवहार करेंगे, तो उनकी दुर्दशा न रह जायगी। अन्त में, जब कि गुलामों की प्रथा उठा दी गई, तो कहा गया कि परमात्मा ने उनके कुछ लोगों को संपत्ति इसलिए दे रखी है कि वे उसके कुछ हिस्से को अच्छे कामों में लगाया करें, इसलिए यदि कुछ लोग धनी रहें और अन्य गरीब भी बने रहें, तो कोई अनिष्ट बात नहीं है।

बहुत समय तक ये दलीलें अमीर और गरीब दोनों (खासकर अमीरों) का समाधान करती रहीं। पर एक दिन अवश्य ही इनकी निःसारता सब पर प्रकट हो गई और गरीबों में असंतोष फिर बढ़ गया। वे अपनी परिस्थिति को जानने लग गये। अब पुनः नवीन मीमांसाओं की आवश्यकता उपस्थित हुई और ठीक समय पर वे पेश भी की गईं। अब की बार ये मीमांसायें विज्ञान और अर्थ-शास्त्र का रूप धारण करके आईं। अर्थ-शास्त्र ने श्रम-विभाग और मनुष्यों में परिश्रम के फल के बंटवारे के नियमों को खोजा। उसने बताया कि श्रम-विभाग और परिश्रम के फलोपभोग, उपज और मांग, पूंजी, किराया, मजदूरी, कीमत और मुनाफा आदि पर निर्भर है। स्थूल दृष्टि से कहना चाहें तो वे ऐसे नियमों पर निर्भर हैं जिनमें मनुष्य कभी रद्दो-बदल नहीं कर सकता और जो उसकी आर्थिक हलचलों का हमेशा नियमन करते हैं।

बड़े लंबे समय तक लोग इस दलील से संतुष्ट रहे कि यह परमात्मा की ही इच्छा है कि कुछ लोग दास बने रहें और कुछ उनके मालिक।

पर इससे मालिकों की क्रूरता को उत्तेजन मिला। फलतः धीरे-धीरे मालिकों की निर्दयता इतनी बढ़ गई कि गुलाम उसके प्रतिकार का कोई उपाय ढूंढ़ने लगे और इस उपर्युक्त दलील की सच्चाई में संदेह उत्पन्न हो गया।

अर्थ-शास्त्र द्वारा पेश की गई इस नवीन दलील की भी यही हालत हुई। कुछ समय तक इसने बड़ी-बड़ी आशायें दिखाईं। श्रमजीवियों से कहा गया कि आर्थिक उत्क्रान्ति बहुत तेजी से आगे बढ़ रही है। उसके नियम अटल हैं। कुछ लोगों को धन-संचय करके और दूसरों को जीवन-भर अविरत परिश्रम करके, उस सम्पत्ति को बढ़ाने का यत्न करते रहना चाहिए। इस तरह उन्हें धीरे-धीरे उस महान् परिवर्त्तन के लिए अपने को तैयार करना चाहिए जब कि माल पैदा करने के तमाम साधनों पर राष्ट्र का अधिकार हो जायगा। पर ये सब आशायें व्यर्थ हुईं। यह सिद्धान्त तो कुछ लोगों को अपने भाइयों के प्रति पहले से भी अधिक निर्दय बनाने लगा। फलतः अब तो वह सर्व-साधारण में भी, जिन्हें विज्ञान ने अन्धा नहीं बना दिया है, गहरे सन्देह उत्पन्न करने लग गया है।

: ३ :

यंत्रालय—१

पर श्रमजीवियों की इस दुरवस्था का कारण यह नहीं कि माल को पैदा करने के तमाम साधनों को पूँजीपतियों ने अपने अधीन कर रखा है। सच्चा कारण तो वह है जो उन्हें अपने देहात से निकाल भगाता है। सबसे पहली बात वही है। दूसरे, विज्ञान इन्हें भले ही इस घृणित जीवन से उस दूरवर्ती भविष्य में मुक्त करने का आश्वासन देता रहे, पर उनकी मुक्ति न तो काम का समय घटाने से, न मजदूरी बढ़ाने से और न उत्पादक साधनों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना देने से ही हो सकती है।

यह सब उनकी दशा को सुधार भी नहीं सकते। रेल तथा किसी कपड़े की मिल या कारखाने में काम करने वाले श्रमजीवी की दुर्दशा का प्रधान कारण कम या ज्यादा समय तक काम करना नहीं है। किसान कभी-कभी दिन में अठारह-अठारह घंटे काम करते हैं, बल्कि यहां तक कि कभी-कभी वे छत्तीस-छत्तीस घंटे तक एक-सा काम किया करते हैं' और फिर वे अपने को सुखी समझते हैं। श्रमजीवियों की दुर्दशा का कारण यह भी नहीं कि वह रेलवे या मिल, (जिसमें वे काम करते हैं,) उनकी अपनी नहीं होती; बल्कि सच्चा कारण तो यह है कि उन्हें मजबूर होकर हानिकर,

अस्वाभाविक और ऐसी जगहों और परिस्थितियों में काम करना पड़ता है जहां जान का खतरा होता है; साथ ही शहरों में उन्हें खराब, तंग और गंदे मकानों में रहकर ऐसा जीवन व्यतीत करना पड़ता है जिसमें कदम-कदम पर प्रलोभन और पतन की सामग्री होती है। और इतने पर भी उसे मजबूर होकर दूसरे की आज्ञा में रहकर उसकी इच्छानुसार काम करना पड़ता है।

कुछ दिनों से परिश्रम का समय घटा दिया गया है और मजदूरों की तनख्वाहें बढ़ा दी गई हैं। पर यदि उनकी बढ़ी हुई विलासपूर्ण आदतों का खयाल न करें तो इससे उनका सच्चा कल्याण नहीं हुआ है। यह ठीक है कि अब वे कलाइयों पर घड़ियां लगाने लगे हैं, बीड़ी-सिगरेट अधिक पीने लग गये हैं और शराबखोरी आदि भी बढ़ गई है। पर इससे उनका क्या कल्याण हुआ? उनका स्वास्थ्य, चारित्र्य और स्वाधीनता कितनी बढ़ गई?

मजदूरों के काम का समय घट गया है और उनकी तनख्वाहें बढ़ गई हैं। पर आज जहां चाहें जाकर देखिए, देहात में काम करने वाले मजदूरों की अपेक्षा इन कारखानों में काम करने वाले मजदूरों का स्वास्थ्य, उनकी औसत उम्र आदि अत्यंत असंतोष-जनक दिखाई देंगी। आप उन्हें नीति और सदाचार में भी देहात के मजदूरों की अपेक्षा पतित देखेंगे। ग्रामीण-जीवन अत्यंत स्वाभाविक अतएव नीति-वर्धक, स्वतंत्र, स्वास्थ्य-कर और नवीनता से भरा हुआ होता है। पारिवारिक जीवन के लिए देहात बड़े ही अनुकूल होते हैं। किसान का पवित्र जीवन आत्मा के विकास के लिए स्वाभावत: परमोपयोगी है। क्या ऐसे सुन्दर स्वाभाविक जीवन के बिछुड़ने पर मनुष्य का पतन अनिवार्य नहीं है?

कुछ अर्थ-शास्त्री कहते हैं---"परिश्रम का समय कम कर देने पर, मजदूरों की तनख्वाहें बढ़ जाने पर, और कल-कारखानों में स्वास्थ्य-वर्धक सुधार कर देने के बाद पहले की अपेक्षा मिल-मजदूरों के स्वास्थ्य और चारित्र्य में काफी तरक्की हो जाती है कदाचित् यह सत्य हो। शायद यह भी सत्य हो कि इधर-उधर और कुछ स्थानों में देहात में रहने वाले श्रम-जीवियों की अपेक्षा कल-कारखानों में काम करने वाले मजदूरों का जीवन, जहां तक बाहरी बातों का सम्बन्ध है, अधिक अच्छा दिखाई दे। पर यह तो कुछ ही स्थानों की बात है, सो भी उस हालत में जब कि सरकार और समाज ने, विज्ञान के आदेशों से प्रभावान्वित हो देहात की जनता के स्वत्वों की बलि चढ़ाकर भी, कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की स्थिति सुधारने के लिए वह सब कुछ कर डाला, जो कि वे कर सकते थे।

यदि मिल-मजदूरों की दशा (ऊपर-ऊपर देखते हुए) कुछ स्थानों में देहात की जनता से अच्छी भी दिखाई दे तो इससे क्या सिद्ध होता है? यही न कि मनुष्य बाहरी दिखावे को अच्छे-से-अच्छा बनाये रखकर भी समस्त प्रकार के नियन्त्रणों द्वारा जीवन को संकटापन्न बना सकता है? दूसरे, वह यह न सिद्ध करता है कि आखिर संसार में इतना बुरा और अस्वाभाविक जीवन ही नहीं जिसके अन्दर पुश्तों तक रहने पर भी मनुष्य अपने को उसके अनुकूल न बना सकता हो।

मिल-मजदूरों और आम तौर से शहर के मजदूरों की दुर्दशा का कारण यह नहीं कि उन्हें कम वेतन पर बहुत समय तक एक-सा काम करना पड़ता है। उनकी दुरवस्था का सच्चा कारण तो यह है कि प्रकृति की गोद से, स्वाभाविक जीवन से छुड़ाकर वे शहर का नारकीय जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर किये जाते हैं, उनकी स्वाधीनता नष्ट की

जाती है, और वे दूसरे की अधीनता और आज्ञानुसार अनिवार्य और एक-सा काम करने के लिए बाध्य किये जाते हैं।

अतः कारखाने के और शहर के मजदूर ऐसी दुरवस्था में क्यों हैं तथा उनकी दशा क्योंकर सुधर सकती है, आदि प्रश्नों का उत्तर यह नहीं हो सकता कि पूंजीपतियों ने उत्पादक साधनों को अपने अधीन कर रखा है। उनकी दशा काम का समय घटाने, वेतन बढ़ाने, या उत्पादक साधनों को समाज की सम्पत्ति बना देने से भी सुधर नहीं सकती।

इसलिए जब हमारे सामने यह सवाल खड़ा होता है कि मिल-मजदूर और शहर के श्रमजीवियों की दुरवस्था का कारण क्या है, और उनकी इस दुरवस्था को दूर करने के लिए क्या किया जा सकता है, तब हम उसके उत्तर में यह नहीं कह सकते कि पूंजीपतियों का उत्पादक साधनों को अपने अधीन कर लेना इस विषमावस्था का कारण है; न उसका उपाय बतलाते हुए यह भी कह सकते हैं कि काम का समय कम कर देने, मजदूरों की तनख्वाहें बढ़ा देने, तथा उत्पादक साधनों को तमाम राष्ट्र की सम्पत्ति बना देने से उनकी वह दुरवस्था दूर हो सकती है।

इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए हमें यह बता देना होगा कि वे क्यों अपने स्वाभाविक जीवन को विसार, प्रकृति की मनोहर गोद से बिछुड़, इन कारखानों के मोह-जाल में आ फँसे हैं! साथ ही यदि हमें उनके कल्याण की कामना है तो ऐसे उपाय ढूँढ़कर निकालने चाहिएं जिनसे उनको अपने स्वाधीन ग्रामीण-जीवन को छोड़ कारखानों में मरकर इस निघृंण गुलामी को अंगीकार करने की कोई आवश्यकता ही न रहे।

बेचारे श्रमजीवी शुरू से देहात में रहते आये हैं। उनके पूर्व-पुरुष भी वहीं रह रहे थे। अब भी करोड़ों लोग वहीं रह रहे हैं। फिर वह क्या

बात थी जिसने उनको उन कारखानों में दिन-दिन भर मरने के लिए देहात से भगाया और अपनी इच्छा के विरुद्ध अब भी भगा रही है ? इस प्रश्न का उत्तर ही हमें शहर के मजदूरों की दुरवस्था का ठीक-ठीक कारण बता सकता है ।

हाँ, इंग्लैंड, बेलजियम, जर्मनी आदि देशों में ऐसे लाखों मजदूर हैं जो पुश्तों से कारखानों में काम करते आये हैं और अब भी वहीं काम करके वे अपनी जीवन-यात्रा तय कर रहे हैं । पर क्या वे अपनी इच्छा से वहां रह रहे हैं ? हरगिज नहीं । वे तो एक तरह से मजबूर होकर वहां रहते हैं । अवश्य ही एक समय उनके पिता, दादा या परदादा अपने प्रिय कृषि-जीवन को छोड़ उसके बदले में शहर के कारखानों में कठिन परिश्रम का जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर किये गए थे ।

कार्ल मार्क्स कहता है—"पहले इन किसानों से बलपूर्वक इनकी जमीनें और जायदाद छीनकर उनको राह का भिखारी बना दिया गया । फिर निर्दय कानूनों की रचना द्वारा उन्हें कैद कर; कोड़े मार-मार, अनेक प्रकार के कष्ट देकर उन्हें किराये की मजदूरी करने के लिए मजबूर किया गया ।" इसीलिए शहर के मजदूरों की दुर्दशा को दूर करने का सवाल स्वभावतः उन बुराइयों को हटाने के लिए भी हमें आकर्षित कर लेता है जो इनको अपने प्यारे ग्रामों को छोड़ शहर के खराब और गन्दे जीवन की ओर ढकेलने में कारणीभूत हुई और हो रही हैं ।

अर्थ-शास्त्र यद्यपि सरसरी तौर पर हमें उनके इस निर्वासन का कारण तो बता देता है; पर उसको दूर करने की चेष्टा नहीं करता । वह तो केवल वर्त्तमान कल-कारखानों में काम करने वालों की अवस्था को सुधारने का यत्न-मात्र करता है । मानो वह मान लेता है कि मजदूरों का वहां रहना

एक अनिवार्य अटल बात है। यही नहीं, बल्कि वह तो मानो यह आवश्यक समझता है कि चाहे कुछ भी हो जाय कारखानों में काम करने वालों को यहीं बने रहना चाहिए। हां, और जिन्होंने अभी देहात और अपनी खेती को छोड़ा नहीं है वे भी ऐसा ही करें और उनमें आकर शामिल हो जायं।

अर्थ-शास्त्र को यह निश्चय है कि सभी किसानों को एक-न-एक दिन कारखानों के मजदूर बनना होगा। संसार के समस्त ऋषि और कवियों ने मानवजाति के सुख के आदर्श को हमेशा सरल और प्राकृतिक कृषि-जीवन में ही देखा है। संसार के समस्त श्रमजीवियों ने भी, जिनकी आदतें अभी बिगड़ी नहीं हैं, अन्यान्य प्रकार की मजदूरी की अपेक्षा कृषि-सम्बन्धी मजदूरी को ही हमेशा पसन्द किया है, और अब भी कर रहे हैं। समस्त संसार जानता है कि कारखानों में काम करना हर हालत में स्वास्थ्य के लिए हानिकर और एक ही प्रकार का होता है तथा कृषि-कार्य अत्यन्त स्वास्थ्यकर और विविध। और, खेती तो स्वाभाविक है, स्वतन्त्र है—किसान मजे में अपनी इच्छानुसार काम और विश्रान्ति ले सकता है। इसीलिए कहा है—'उत्तम खेती, मध्यम बान।' कारखाने का काम तो यन्त्राधीन है, अस्वाभाविक है, भले ही वह यन्त्र खुद अपना ही क्यों न हो। खेती तो आद्य और मूलभूत है और कल-कारखाने उसके अनुगामी। बिना खेती के उनका अस्तित्व ही असम्भव है। पर फिर भी अर्थ-शास्त्र (हमारी आंखों में धूल झोंककर) जोरों से प्रतिपादन करता है कि किसानों को इस ग्राम-निर्वासन के कारण जरा भी कष्ट नहीं होता; बल्कि वे तो इसे चाहते और इसके लिए प्रयत्न करते हैं।

: ४ :

यंत्रालय—२

साम्यवादी तो सबसे अधिक आगे बढ़े हुए अर्थ-शास्त्री माने जाते हैं न, जो तमाम उत्पादक साधनों पर समाज का प्रभुत्व-स्थापन कर देना चाहते हैं ? पर ये भी वर्तमान श्रम-विभाग के सिद्धान्त के अनुसार ही काम करना चाहते हैं और अपने कारखानों से भी उन्हीं और उतनी ही वस्तुओं को पैदा करना चाहते हैं जो कि अभी की जा रही हैं।

उनका खयाल है कि आज और उस नवीन युग में, फ़र्क सिर्फ यही होगा कि अब जिन वस्तुओं का उपयोग केवल हम कर रहे हैं, भविष्य में वे सबको मिलने लग जायंगी। वे तो उस अनागत युग का अस्फुट-चित्र अपनी आंखों के सामने खड़ा करते हैं और देखते हैं कि उत्पादक साधन समाज की अधीनता में आते ही वे—विज्ञान-वेत्ता और शासक वर्ग के लोग---भी किसी-न-किसी काम में लग जायंगे। कोई मैनेजर, कोई डिजाइनर, (नमूने बनाकर देने-वाले) कोई विज्ञान-शास्त्री और कोई चित्रकार या शिल्पकार के काम को करेंगे। पर जब उनसे पूछा जाता है कि मुँह पर कपड़ा बाँधकर-शीशे को भट्टी में कौन डालेगा, हथौड़े को हाथ में लेकर उसे पीटेगा कौन, खानों से कोयला या कच्ची धातु को कौन

निकालेगा; गटरें, पाखाने आदि कौन साफ करेगा ? तब वे या तो चुप हो जाते हैं या भविष्यवाणी करते हुए कहते हैं---"उँह, तबतक तो गटरें साफ करने और पृथ्वी के गर्भ में घुसकर नाना प्रकार के द्रव्यों को निकालने की कला में हम इतनी प्रगतिकर लेंगे कि इन कामों को करते हुए मनुष्य को प्रत्यक्ष आनन्द होगा।" यह है कि उनकी भावी आर्थिक प्रगति का चित्र जो हम बेलमी और विज्ञान के ग्रन्थों में देखते हैं।

उनकी योजना इस प्रकार है---तमाम श्रमजीवी अपनी संयुक्त संस्थायें बना लेंगे, और उनके द्वारा तथा हड़ताल और प्रातिनिधिक सभाओं में भाग ले-लेकर अपने अंदर अपूर्व संगठन उत्पन्न कर लेंगे। फिर वे जमीन और कारखानों को अपने अधीन कर लेंगे। तब उनके जीवन में अपूर्व परिवर्तन हो जायगा। उनके चेहरे सतेज होंगे और शरीर बलवान कीमती कपड़ों से वे अपने शरीरों को सजावेंगे और त्यौहारों के दिन इस तरह आनन्द के साथ बितावेंगे कि ग्रामीण-जीवन की उन्हें याद तक न आवेगी। ईंट और पत्थर की बड़ी-बड़ी इमारतें उनको उन दरिद्र झोंपड़ों की अपेक्षा अधिक पसंद होंगी। पेड़-पौधे, बेलें और मूक पशुओं के साथ जीवन बिताने की अपेक्षा वे इन धुआं उगलने वाली ऊंची-ऊंची चिमनियोंवाले, अद्भुत यन्त्रों से सजे हुए कारखानों में काम करना अधिक पसंद करेंगे और खेती के विविध, स्वास्थ्यकर और स्वाधीन काम को छोड़ कारखानों में बंद हो घंटी के इशारे पर घंटों एक-सा काम करना बड़ी खुशी से स्वीकार करेंगे।

कैसी असम्भव बात है! पुराने और भावुक लोग कहते थे, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, कि इन मजदूरों को अपने कठिन परिश्रम का फल परलोक में मिलेगा। यह और वह दोनों एक-सी असंभव बातें हैं तथापि

हमारे समाज के विद्वान् और शिक्षित लोगों का इस कल्पना के सत्य सिद्ध होने में उतना ही विश्वास है, जितना कि उन भूतकालीन विद्वान् और बुद्धिमान् पुरुषों का इस कल्पना में था कि मजदूरों को उनकी मृत्यु के बाद स्वर्ग का राज्य मिलेगा।

विद्वान् लोग और उनके चेले धनी-वर्ग के लोग इसमें विश्वास करते हैं। क्यों? इसलिए कि उनके लिए इसके बिना दूसरा चारा ही नहीं। उनके लिए तो पीछे पहाड़ और सामने खाई है। यदि आँखें खोलते हैं तो वे देखते हैं कि रेल से लेकर दियासलाई की डिब्बी और सिगरेट तक अपने भाइयों के प्राण-नाशक परिश्रम के फल हैं। वे देखते हैं कि वे इस परिश्रम में उनका हाथ नहीं बंटाते, किन्तु फिर भी उसका उपयोग करते हैं। वे जानते हैं कि यह उनके लिए लज्जा की बात है। यदि इसे देखने से इनकार करते हैं तो उन्हें यह मान लेना पड़ता है कि जो कुछ हो रहा है यह विज्ञान और अर्थ-शास्त्र के अटल नियमों के कारण हो रहा है, जिनको बदलना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है। अतः वे सोचते हैं कि जो-कुछ चल रहा है इसीमें सबका कल्याण है।

यह वह भीतरी कारण, जो विज्ञान-वेत्ताओं को---बुद्धिमान् और शिक्षित परन्तु संस्कार-हीन पुरुषों को---एक सरासर झूठ को जोरों के साथ और दृढ़ता के साथ प्रतिपादन करने पर मजबूर करता है। इसी मोह-जाल में फँसकर वे कहते फिरते हैं कि मजदूरों को, किसानों को अपने फायदे के लिए सहज सुन्दर प्राकृतिक कृषि-जीवन छोड़कर अपने शरीर और आत्मा का घोर अधःपतन करने के लिए मिलों और कारखानों में जाना चाहिए।

: ५ :

साम्यादर्श का दिवाला

क्षण भर के लिए हम साम्यवादियों के कथन को मान लेते हैं। (यद्यपि वह खुल्लम-खुल्ला निराधार और मनुष्य-स्वभाव के विपरीत है) हम फर्ज करते हैं कि देहातियों के लिए अपने गावों में रहकर गृहोद्योगों के द्वारा जीवन-निर्वाह करने की अपेक्षा शहरों में बसकर कारखानों में गुलाम की तरह मजदूरी करना ही अधिक अच्छा है। पर फिर भी स्वयं उनके आदर्श ही में, जहां कि इन अर्थ-शास्त्रियों के कथनानुसार उनकी आर्थिक उत्क्रांति संसार को ले जा रही है, एक ऐसी बात रह जाती है जो उस आदर्श ही का खण्डन करती है और जिसको सुलझाना बिलकुल असम्भव है। आदर्श यह है कि उत्पादक साधनों का प्रभुत्व प्राप्त कर लेने पर श्रमजीवियों को भी वही सुविधायें और सुख-सामग्रियां मिलेंगी जो कि आज केवल धनवानों को ही मिल रही हैं। सभी अच्छा खावेंगे, अच्छा पहनेंगे, अच्छे-अच्छे मकानों में रहेंगे, नाच-गान सुनेंगे, नाटक देखेंगे, अखबार और किताब पढ़ेंगे, मोटरों में घूमेंगे इत्यादि-इत्यादि। पर चूंकि अब प्रत्येक मनुष्य को ये चीजें मिलेंगी उनकी पैदायश का भार भी सब पर बट जाना उचित है। फलत: यह भी निश्चित हो जाना जरूरी है कि प्रत्येक मनुष्य कितने घंटे काम करे।

पर यह हो कैसे ?

अंकों के द्वारा हम यह जान सकते हैं (पर पूरी तरह कदापि नहीं) कि पूँजी, स्पर्द्धा और आवश्यकताओं से जकड़े हुए समाज के मनुष्यों को किन-किन और कितनी चीजों की आवश्यकता होती है। पर यह कौन बता सकता है कि उत्पादक साधनों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना डालनेवाले स्वतंत्र समाज के मनुष्यों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए किन-किन और कितनी चीजों की आवश्यकता होगी ?

ऐसे समाज की आवश्यकतायें और माग निश्चित नहीं की जा सकतीं। वे बेहद बढ़ जायंगी। आज जो चीजें धनी-से-धनी आदमी ही के पास मिल सकती हैं उन्हें कल प्रत्येक आदमी प्राप्त करने की इच्छा करेगा। अत: ऐसे समाज की आवश्यकताओं का अंदाजा लगाना बिलकुल असम्भव है।

फिर एक दूसरा यह सवाल खड़ा होता है कि लोगों को हम उन चीजों को बनाने के लिए कैसे तैयार करेंगे जिन्हें कुछ लोग आवश्यक समझते हैं और कुछ न केवल अनावश्यक बल्कि हानिकर भी।

मान लीजिए कि समाज की जरूरतों को पूरा करने के लिए यह आवश्यक जान पड़े कि हर एक आदमी दिन में छ: घंटे काम करे। पर एक स्वतंत्र समाज में एक मनुष्य को उन छ: घंटों तक काम करने के लिए कौन मजबूर कर सकता है, जब कि वह जानता है कि उसका वह समय अनावश्यक और हानिकर चीजों को बनाने में बरबाद होगा।

इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि आजकल यंत्रों की सहायता द्वारा थोड़े-से-थोड़े परिश्रम में ज्यादा-से-ज्यादा चीजें तैयार की

जा सकती हैं। सचमुच, इस दृष्टि से यंत्र-सामग्री द्वारा हमारा बहुत उपकार हुआ है। पर हम इससे भी अधिक उपकृत हैं उस श्रम-विभाग के सिद्धान्त के, जो सुन्दरता और पूर्णता की चरम मीमा को पहुँच गया है। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि कारखानेवाले इन चीजों की बदौलत ख़ूब फ़ायदा उठाते हैं और हमें भी उनके उपयोग से आनन्द और सुख होता है। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि स्वाधीन लोग बिना बल-प्रयोग के आगे भी इन चीजों को इसी प्रकार उत्पन्न करते रहेंगे। निस्सन्देह वर्तमान श्रम-विभाग की सहायता से ही 'क्रप' आश्चर्यजनक तोपें जल्दी-से-जल्दी और कुशलता के साथ बना सकता है। एक दूसरा शख्स उसी कौशल के साथ रेशम के कपड़े तेजी से बना सकता है। क, ख, और ग इतर, केशवर्धक तेल और ताश की सुन्दर जोड़ियां बनाते हैं। 'म' बढ़िया खुशबूदार शराब बनाता है। निःसन्देह ये चीजें उन्हें पैदा करनेवाले कारखानेवाले और इनके उपयोग करनेवाले दोनों के लिए बड़ी लाभदायक हैं। पर तोपें, शराब और तेल तो उन लोगों के लिए उपयोगी हैं जो चीन के बाजार को अपने हाथ में लेना चाहते हैं, या जिन्हें शराब में अंधाधुन्ध हो पड़े रहना है या जिन्हे अपने बालों की चिन्ता है। पर आपको ऐसे भी कई पुरुष मिलेंगे जो इन चीजों को बनाना हानिकर समझते हैं। अब इन्हें उन चीजों को बनाने के लिए आप किस तरह मजबूर कीजिएगा ?

पर यह भी जाने दीजिए। हम क्षण भर के लिए यह भी मान लेते हैं कि कुछ चीजों के बनाने में योग देने के लिए उनको भी सहमत करने का उपाय मिल जाता है (यद्यपि सिवा बल-प्रयोग के न तो कोई दूसरा उपाय है और न हो सकता है)। अब आगे यह सवाल खड़ा होता है कि इस

स्वाधीन समाज में जहां न तो स्पर्धा है और मांग-पूर्ति के नियम, यह कौन निश्चित करेगा कि अमुक वस्तु पहले बनाई जाय और अमुक बाद में ? कारखाने तो अब किसी एक पूंजीपति के नहीं, राष्ट्र की संपत्ति होंगे। इस प्रश्न का निपटारा कौन करेगा कि पहले हमें सैबेरिया का रेल-मार्ग और पोर्टआर्थर की किलेबन्दी करनी चाहिए और बाद में देहात की सड़कें, या इसके उलटे। पहले क्या हो ? पहले बिजली की बत्तियां लगाई जायं, या खेतों के लिए नहरें खोदी जायं ? यह प्रश्न हल हो नहीं पाता कि एक दूसरी समस्या हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती है। कौन आदमी किस काम को करे ? स्पष्ट ही आसान और हलके काम की तरफ ही सब झुकेंगे। बड़े हथौड़ों से लोहा पीटना और टट्टी-गटरों का साफ करना तो कोई भी स्वीकार न करेगा। काम बांटते समय लोगों को अपना-अपना काम करने के लिए किस तरह ललचाया जायगा ?

संसार का श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ गणितज्ञ भी हमें इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता। अगर किसी ने उत्तर बताया भी तो वह अमली नहीं, कोरा सैद्धान्तिक होगा। ज्यादा-से-ज्यादा यही कहा जा सकता है कि ऐसे अधिकारी नियुक्त किये जायंगे जो इन बातों का यथावत् नियमन करते रहेंगे। कुछ लोग इन प्रश्नों का निर्णय करेंगे और अन्य सब उनका पालन।

अतः कल-कारखानों के राष्ट्र की सम्पत्ति हो जाने पर भी ये तीन कठिनाइयां तो बनी ही रहेंगी—काम का बटवारा, उत्पादन का परिमाण और तीसरी है काम का चुनाव। साम्यवाद के सिद्धान्तों के अनुसार सुसंगठित समाज में एक चौथी और भी अधिक महत्त्वपूर्ण कठिनाई उपस्थित होगी। और वह है श्रम-विभाग का तरीका। समाज में आज जो श्रम-विभाग का तरीका प्रचलित है वह तो श्रमजीवियों की आवश्यकताओं

पर ही निर्भर है। एक मजदूर आज अपने जीवन भर पृथ्वी के अन्दर खानों में काम करना या किसी वस्तु का केवल शतांश हिस्सा बनाते रहना अथवा यंत्रोंके कोलाहल के बीच अपने हाथों को नीचे-ऊपर करते रहना इसलिए पसन्द करता है कि बिना उसके वह अपना निर्वाह नहीं कर सकता। पर भविष्य में, जब कि आदमी के पास उत्पादक साधन अपने ही होंगे, जब कि उसे किन्हीं खास चीजों की आवश्यकता ही न होगी, तब बिना बल-प्रयोग के उसे आत्मा और शरीर का नाश करनेवाली आज के जैसी मजदूरी करने के लिए मजबूर करना असंभव होगा। इसमें शक नहीं कि श्रम-विभाग जनता के लिए लाभदायक और स्वाभाविक भी है। पर स्वाधीन समाज में श्रम-विभाग एक निश्चित बहुत-थोड़ी हद तक ही संभवनीय होगा। और आज तो हमने उस हद को बहुत पीछे छोड़ दिया है।

यदि एक आदमी केवल जूते ही बनाता रहे, उसकी स्त्री बुनती रहे एक दूसरा आदमी खेती करता रहे; और तीसरा लुहारी का काम करे और ये सब अपने काम में कुशलता प्राप्त करने पर अपने परिश्रम के फल का आपस में विनिमय—लेन-देन—करते रहें तो यह श्रम-विभाग निःसन्देह सबके लिए लाभदायक होगा। स्वाधीन समाज के लोग भी स्वभावतः अपने परिश्रम का विभाग इसी तरह करेंगे। पर आजकल का श्रमविभाग तो स्वाधीन समाज में नितान्त हानिकर होगा। इस जमाने के श्रम-विभाग के सिद्धान्त के अनुसार तो आज एक आदमी वस्तु का एक शतांश हिस्सा बनाता है, दूसरा १४०० (फारेनहीट डिग्री गरमवाली भट्टी के सामने तपता है, और तीसरे को प्राणनाशक गैसों में काम कर अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है। भले ही इस श्रम-विभाग से सुन्दर-सुन्दर

चीजें बड़े पैमाने पर तैयार हो सकती हों, कम कीमत में बिकती हों। पर इसके कारण संसार में मनुष्य की सबसे अधिक कीमती चीज का नाश होता है और वह है मनुष्य का प्राण। इसलिए आजकल का श्रम-विभाग तो स्वाधीन समाज में बिना बल-प्रयोग के असंभव है। रौबटस् का कथन है कि "पारस्परिक श्रम-विभाग मानव-जाति को एकता के सूत्र में बांध देता है।" यह सत्य है, पर केवल स्वाधीन श्रम-विभाग ही, स्वेच्छापूर्वक अंगीकृत श्रम-विभाग ही एकता का पोषक हो सकता है, दूसरा नहीं।

यदि लोग एक सड़क बनाने का निश्चय करें और सभी काम में भिड़ जायं—एक आदमी खोदने लगे, दूसरा पत्थर ढो दे, तीसरा उन्हें फोड़ता जाय, इत्यादि तो वह श्रम-विभाग अवश्य ही एकता का पोषक होगा।

पर यदि काम करने वालों की इच्छा के विपरीत एक सैनिक महत्त्व की रेल, कोई भारी प्रासाद अथवा पैरिस की प्रदर्शिनी को भरने के लिए मूर्खतापूर्ण चीजों का बनाना शुरू किया जाय, और उसके लिए एक आदमी को बलपूर्वक लोहा लाने के लिए कहा जाय, दूसरे से कोयला खुदवाया जाय, तीसरे को सांचे बनाने के लिए पीटा जाय, चौथे की पीठ पर कोड़े मारकर उसे पेड़ काटने के लिए कहा जाय, और पांचवें को हंटर दिखाकर उसको आरे से काटने के लिए मजबूर किया जाय, और इनमें से एक को भी यह पता न हो कि यह सब किस स्वर्ग की प्राप्ति के लिए किया जा रहा है, तब तो इस श्रम-विभाग से एकता नहीं उलटे द्वेष और केवल द्वेष ही बढ़ेगा।

अतः साम्यवाद की बुनियाद पर संगठित हुए स्वाधीन समाज में, जिसमें उत्पादक साधन और औजार राष्ट्र की सम्पत्ति रहेंगे प्रत्येक

आदमी श्रम-विभाग को अंगीकार वहीं तक करेगा, जहां तक कि उसे वह लाभदायक प्रतीत होगा और चूंकि प्रत्येक आदमी स्वभावत: अपनी वृत्ति और प्रवृत्तियों में विकास और विविधता देखने के लिए समुत्सुक रहता है आज-का-सा श्रम-विभाग तो उस स्वाधीन समाज में एकदम असम्भव-सा हो जायगा।

यह सोचना केवल भ्रम है कि उत्पादक-साधन राष्ट्र के हाथों में आते ही प्रत्येक चीज की पैदाइश बेहद बढ़ जायगी। इस भ्रम को अपने हृदय में स्थान देना मानों यह आशा करना है कि गुलामों को आजाद कर देने पर भी हमारे दीवानखाने, नृत्य-शालायें, घर पर बनाए कालीन, रेशम की रस्सियां और मनोहर बगीचे जिनमें वे गुलाम दिन-दिन भर काम करते रहते थे उसी प्रकार बने रहेंगे, जैसा कि पहले थे। अत: यह कथन नितान्त भ्रम-पूर्ण है कि साम्यवाद के आदर्श युग में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होगा, और उसे वे सब चीजें अपने उपयोग और उपभोग के लिए मिलती रहेंगी जो आज केवल धनी लोग ही खरीद और काम में ला सकते हैं।

: ६ :

सुधार अथवा स्वाधीनता

वैज्ञानिक तथा उनकी देखा-देखी अन्य सम्पन्न वर्ग के लोग भी हमारी इस वर्तमान आर्थिक व्यवस्था को सुधार कहते हैं। इस सुधार में, जिसका अंग रेलें, तार, छाया-चित्र-कला (Photography) एक्सरेज, शफाखाने, प्रदर्शिनियाँ और प्रधानतः तमाम सुख-सामग्रियां हैं, ये लोग कुछ ऐसी पवित्रता और दिव्यता का दर्शन करते हैं कि वे इस बात का विचार तक बरदाश्त नहीं करते कि इसे या इसके किसी छोटे-से अंश को भी नष्ट नहीं भ्रष्ट तक करना ठीक होगा। हाँ, और सब बातों में मनमाना परिवर्तन भले ही हो जाय पर इस सुधार-सामग्री को कोई हाथ न लगाने पावे।

पर ज्यों-ज्यों हम अधिकाधिक गहरा विचार करते हैं त्यों-त्यों हमें इस बात का और भी स्पष्ट ज्ञान होता जा रहा है कि इस सुधार की हस्ती तो तभी कायम रह सकती है जब काम करनेवालों को—मजदूरों को—काम करने के लिए मजबूर किया जाय। पर वैज्ञानिकों का यह विश्वास हो गया है कि यह सुधार हमारे लिए सबसे अधिक कल्याण की वस्तु है। पहले जमाने के न्यायकार कहते थे कि संसार में न्याय ही सर्वोपरि है, इसी प्रकार वैज्ञानिक भी अपने इस विश्वास के बल पर जोरों से प्रतिपादन

करते हैं कि न्याय रहे या डूबे; सुधार की तूती ही चारों ओर बोलनी चाहिए। और वे केवल कहते नहीं बल्कि वैसा ही कर भी रहे हैं। इन सुधारों को छोड़ अन्य सब बातों के सिद्धान्त और व्यवहार में भले ही परिवर्तन हो जाय; पर कारखानों, मिलों और खासकर दूकानों पर जो-जो भी कुछ बिकता है उसमें किसी प्रकार की न्यूनता न होनी चाहिए।

पर मेरा खयाल है कि विश्व-बन्धुत्व के नियम को मानने वाले, अपने पड़ोसी पर भी अपने ही जैसा प्यार करनेवाले संस्कारवान पुरुषों को इससे ठीक विपरीत ही प्रतिपादन करना चाहिए।

बिजली की बत्तियाँ, टेलीफोन, प्रदर्शिनी, प्रमोद-वन, नृत्य-शालायें और रंगभूमियाँ अच्छी चीजें होंगी। सिगरेट, दियासलाई की पेटियों और मोटर गाड़ियाँ भी अच्छी होंगी। पर ये हमारा क्या उपकार करती हैं? रेलें हमें तेजी से एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचा देती हैं और कल-कारखानों के द्वारा सस्ती और सुन्दर चीजें हमें मिलती हैं, मिलें हमें बढ़िया कपड़ा देती हैं। पर इन सब चीजों का जितना ही जल्द सत्यानाश हो अच्छा है, यदि इनके बनाने के लिए फी सैकड़ा ९९ मनुष्यों को अपना सुन्दर ग्रामीण-जीवन छोड़कर कारखानों में गुलाम बने रहकर नाना प्रकार के रोगों का शिकार हो अकाल मृत्यु के अधीन होना पड़ता है। लंदन और पीटर्सबर्ग में बिजली की बत्तियाँ लगाने, प्रदर्शिनी की इमारतें बनाने, बढ़िया-से-बढ़िया रंग बनाने और उत्कृष्ट तथा महीन कपड़ा तेजी से बुनने के लिए यदि केवल कुछ ही लोगों को नष्ट, बरबाद करना या अल्पजीवी बना देना अनिवार्य हो तो ऐसे सुधारों से बाज आना ही अच्छा है। लन्दन और पीटर्सबर्ग को गैस के प्रकाश से प्रकाशित करना ही भला है। ऐसी प्राण-नाशक प्रदर्शिनियों; रंग और महीन कपड़ों का न होना ही

अच्छा है। परमात्मा के लिए ऐसे कामों को न कीजिए जिनसे अपने दूसरे भाइयों को अपनी स्वाधीनता या प्राणों को बलि चढ़ानी पड़ती हो। सच्चे संस्कारवान् पुरुष तो पुनः इस बात पर तैयार हो सकते हैं कि वे घोड़ों पर ही सफर करें या माल-असबाब यहाँ-से-वहाँ पहुँचावें और जमीन को भी लकड़ी या हाथों से ही जोतें। बल्कि वे उन रेलों में बैठना कभी स्वीकार न करेंगे जिनके नीचे प्रति वर्ष कई आदमी पिस जाते हैं, जैसा कि शिकागो में होता है। सच पूछा जाय तो रेल के संचालकों को अपनी सड़क इस तरह बना लेनी चाहिए जिससे इतनी प्राण-हानि ही न होने पावे। किन्तु शिकागो की रेलवे-कम्पनी के संचालक अपनी रेल की सड़क इसीलिए नहीं बदलते कि बनिस्बत सड़कें बनाने के रेल में दबने वाले अभागों के कुटुम्बों को मुआवजा दे देना उनके लिए अधिक फायदे-मन्द है। सच्चे और सहृदय मनुष्यों को तो न्याय को सर्वप्रथम मानना चाहिए। जहन्नुम में जावें ये सुधार जो नित्य मनुष्य की स्वाधीनता और प्राणों का बलिदान माँगते रहते हैं। हमारा ध्येय वाक्य यह हो 'न्याय की वेदी पर स्वार्थ का बलिदान हो।' न कि 'स्वार्थ की वेदी पर न्याय का वध करो।'

पर सुधार—सच्चा सुधार—नष्ट नहीं किया जा सकता। सचमुच हमें फिर लौटकर न तो अपनी जमीनें लकड़ी से जोतनी होंगी और न मशालों से अपने भवनों को प्रकाशित करना होगा। अपनी स्वाधीनता को बलि चढ़ाकर भी मनुष्य ने यह जो वैज्ञानिक प्रगति की है वह व्यर्थ न होगी। यदि हम केवल यह याद रखें कि हमें अपने स्वार्थ के लिए अपने दूसरे भाइयों के जीवन को नष्ट न करना चाहिए तो हम आवश्यक निर्दोष सुधारों का आविष्कार भी जरूर कर सकेंगे। हम अवश्य ही

अपने जीवन को ऐसे सांचे में ढाल लेंगे जिससे अपने भाइयों की स्वाधीनता को बिना नष्ट किये ही प्रकृति पर हमारा प्रभुत्व प्रस्थापित करने वाले तमाम आविष्कारों का उपयोग करने में हम समर्थ हो सकेंगे।

: ७ :

गुलामी की जड़ हमारे भीतर है

कल्पना कीजिए कि एक विदेशी देहाती हमारे शहरों में आता है। वह न हमारे इतिहास से परिचित है और न कानूनों से। हम उसे अपने नागरिक जीवन के विविध अंग दिखाते हैं और पूछते हैं कि इस नवीन जगत् में वह कौन-सी बात है जो उसे अपने जगत् से एकदम भिन्न दिखाई देती है। वह फौरन यही कहेगा कि हमारे और यहां के जीवन में सबसे बड़ा फर्क यही है कि यहां कुछ लोग तो केवल आराम करते हैं और शेष सब दिन-भर उनके लिए मरते रहते हैं। पहले प्रकार के लोग हृष्ट-पुष्ट हैं उनके हाथ स्वच्छ और कोमल हैं, पोशाक सुन्दर है, बढ़िया मकानों में रहते हैं; बहुत थोड़ा, हल्का-सा काम करते हैं या बिलकुल ही नहीं करते और दिन भर अपना दिल बहलाया करते हैं। इनके मनोरञ्जन की सामग्री भी ऐसी-वैसी नहीं होती। बेचारे अन्य लोग बरसों कठोर परिश्रम कर इनके मनोरञ्जन की सामग्रियां बनाते रहते हैं और ये दूसरे प्रकार के लोग? ये कैसे हैं? गन्दे झोंपड़ों में रहते हैं, फटे-पुराने कपड़ों से अपने दुबले-पतले शरीर को ढांपते हैं और सुबह से शाम तक उन लोगों के लिए काम करते हैं जो इधर का तिनका उठाकर उधर नहीं

रखते, बल्कि हमेशा केवल मनोरञ्जन ही किया करते हैं।

भले ही आजकल के गुलामों और मालिकों के बीच का फर्क इतनी स्पष्टता के साथ न दिखाई देता हो जितना कि पहले गुलामों और मालिकों में दिखाई देता था, भले ही आजकल के गुलाम थोड़े ही समय के लिए गुलाम हों और बाद में मालिक बन जाते हों, भले ही कुछ लोग गुलाम और साथ ही गुलामों के मालिक भी हों, पर इन दो वर्गों के मिश्रण से यह इनकार नहीं किया जाता कि आजकल समाज में पहले की भांति गुलाम और गुलामों के मालिक ऐसे दो वर्ग नहीं हैं। बीच में संध्याकाल के होते हुए भी कोई यह नहीं कह सकता कि प्रत्येक २४ घण्टे का काल स्पष्टतः दिन और रात में विभक्त नहीं है।

आजकल के (गुलामों के) मालिकों के पास यदि कोई एक निश्चित गुलाम नहीं है तो इससे क्या? उनके पास वे रुपये तो हैं जिनकी आवश्यकता सैकड़ों गुलामों को है। और इन सैकड़ों में से वह भला आदमी हर किसी गुलाम को चुनकर उसे अपना एहसानमन्द बना उसके द्वारा अपने मकान के परनाले और पाखाने साफ करवा सकता है।

हमारे इस युग में केवल वे ही गुलाम नहीं हैं जो कल-कारखानों और मिलों में काम करते हैं। जिन्हें अपने जीवन-निर्वाह के लिए अपने को उन कारखानों के मालिकों के हाथ पूरी तरह बेच देना पड़ता है, बल्कि तमाम किसान भी तो गुलाम ही हैं जो दूसरे की जमीन में दूसरे ही का अनाज बोते हैं, दिन-दिन भर मरते हैं, और दूसरे ही के खलिहान में उसके लिए उस अनाज को इकट्ठा करते हैं। गुलाम वे किसान भी तो हैं जो साहूकारों का रुपया नहीं---उसका सूद चुकाने के लिए अपने खेतों में कड़ी मिहनत करते रहते हैं और फिर भी जीवन भर पार नहीं पाते। गुलाम वे

असंख्य लोग भी हैं---रसोइये, महरियां, दरबान, कोचवान, अर्दली, इत्यादि, जो अपने जीवन भर अत्यंत अस्वाभाविक और अप्रिय पेशे कर-करके अपने पेट का गढ़ा येन-केन-प्रकारेण भरने की चेष्टा में सुध-बुध भूल जाते हैं।

गुलामी अपने पूरे जोश में है; पर हम उसे देख नहीं सकते-ठीक उसी तरह जैसी कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त में वह यूरोप में थी और वहां के लोग उसे देख नहीं सकते थे।

यूरोप के उस जमाने के लोग सोचते थे कि इन गरीबों को मजबूर करके अपनी जमीन इनसे जुतवा लेना एक स्वाभाविक बात है। यह भी एक स्वाभाविक, अनिवार्य आर्थिक व्यवस्था है कि उनको हमारी आज्ञा का पालन करना चाहिए। इसे वे गुलामी नहीं कहते थे।

यही स्थिति-आज हमारी हो रही है। इस युग के लोग इन मजदूरों की दशा को एक स्वाभाविक और अनिवार्य बात समझते हैं और इसे भी वे गुलामी नहीं कहते।

पर हमारी जागृति भी ठीक उसी तरह धीरे-धीरे हो रही है जैसे कि अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम काल में लोगों की हुई थी। पहले उन्हें किसानों का पूरी तरह अमीरों के अधीन होकर रहना स्वाभाविक और अनिवार्य प्रतीत होता था, पर शीघ्र ही उनकी आँखों ने देखा कि यह सरासर अनुचित, अन्यायपूर्ण और अनीतिमय कार्य है। इस कलंक को जितनी जल्दी धोकर साफ किया जाय उतना भला है। इसी प्रकार हमारी भी आखें अब धीरे-धीरे खुल रही हैं! हम भी देखते हैं कि इन मजदूरों की दशा, जो हमें पहले बिलकुल मामूली और यथार्थ मालूम होती थी, अशोभनीय है, और इसमें परिवर्त्तन करना परमावश्यक है।

इस युग की गुलामी का सवाल आज ठीक उसी अवस्था में से गुजर रहा है जिसमें से अठारहवीं शताब्दी के अन्त में पश्चिमी यूरोप और अमेरिका में गुलामी की निघृ्ण प्रथा का सवाल गुजर रहा था।

पर इस समय केवल पुरोगामी विचारों के लोग ही इस अन्याय को जानने लगे हैं। अधिकांश लोगों को तो इस बुराई का अभी कुछ खयाल ही नहीं है।

इसका कारण क्या है? मजदूरों की इस जीती-जागती नवीन गुलामी को अधिकांश लोग क्यों नहीं देख पाते? इसका एक प्रधान कारण यही है कि हमारे अन्दर से वह निघृ्ण गुलामी की प्रथा अभी-अभी उठी है। यथार्थ में देखा जाय तो पहली प्रथा अब बहुत पुरानी अतः बेकाम-सी हो गई थी। दूसरे एक नवीन और सूक्ष्मतर गुलामी की प्रथा का आविष्कार भी हो चुका था। इस नवीन प्रथा के अनुसार हम एक नहीं अनेकों गुलाम खरीद सकते हैं। क्रीमिया के तातार अपने कैदियों के साथ जो व्यवहार करते थे वही हमने इस गुलामी की प्रथा के साथ किया। क्रीमिया के निवासियों ने अपने कैदियों को मुक्त करने के एक नवीन तरीके का आविष्कार किया। वे पहले अपने कैदियों के पैरों के तलुए छील डालते थे, फिर सूअर के बालों के छोटे-छोटे टुकड़े करके उन जख्मों पर डाल देते थे। इतना कर लेने पर वे कैदियों की बेड़ियाँ काटकर उन्हें स्वतन्त्र कर देते थे। अमेरिका और रूस में गुलामी की प्रथा को नष्ट करते समय भी इसी नीति से काम किया गया। गुलामी जड़ से नहीं काटी गई, बल्कि केवल ऊपर से उसकी कलम कर दी गई जिससे वह और भी जोश के साथ पनपने लगी। जब लोगों का यह यकीन हो गया कि मनुष्य बिना ही बेड़ियों और काठ के खोड़े के हमारा गुलाम बना रह

सकता है तो यह अनावश्यक था कि उसे व्यर्थ ही जकड़ दिया जाय। इससे तो बल्कि हमारे काम में हानि होने की सम्भावना थी। (उत्तरी अमेरिका के निवासियों ने इसी से तो पुरानी गुलाम-प्रथा को नष्ट करने के लिए जोरों से मांग की क्योंकि इस समय नवीन—पैसे की—गुलामी ने अपना प्रभाव अच्छी तरह लोगों पर जमा दिया था। दक्षिणी अमेरिका के लोगों को अभी इस देवी की शक्ति के अच्छी तरह दर्शन नहीं हो पाये थे, इसलिए उन्होंने उस पुरानी प्रथा को नष्ट करने के लिए अपनी अनुमति नहीं दी।)

रूस में गुलामी की प्रथा का अन्त तभी किया गया जब धनिकों ने अपने अन्दर जमीनों का बटवारा पूरी तरह कर लिया था। जब किसानों को जमीनें दी गईं तब उन पर बेहद कर्जा बना हुआ था। इस तरह जमीन की गुलामी का नाश हुआ और पैसे की गुलामी उन पर सवार हुई। यही बात शेष यूरोप में भी हुई। जमीनों के कर तब हलके किये गये जब वे किसानों के हाथों से निकलकर अमीरों के पास चली गईं, जब किसान खेती करना भूल गये, जब वे शहरों में आकर हमेशा के लिए बस गये, और जब वे पूरी तरह पूँजीपतियों के अधीन हो गये। इंग्लैंण्ड में भी तभी अनाज पर के कर उठाये गये। अब जर्मनी और अन्य देशों में भी मजदूरों पर के कर उठाकर इन धनिकों पर लगाये जा रहे हैं क्योंकि मजदूर भी आखिर हैं तो उन्हीं की अधीनता में! गुलामी का एक प्रकार तबतक नहीं नष्ट किया जा सकता जबतक दूसरा अधिक अच्छा प्रकार उसका स्थान ग्रहण नहीं कर लेता। यह देवी अनेकरूपा है। कभी एक और कभी दूसरा और कभी-कभी एक साथ अनेक रूप दिखाकर वह लोगों को अपने अधीन किया करती है। जन-समाज का एक छोटा-सा हिस्सा

अपने हाथों में धन और अधिकार को सम्मिलित कर सब भाइयों पर अपना आतंक जमाये रखता है। और यही—थोड़े लोगों द्वारा अधिक लोगों का गुलाम बना लिया जाना—हमारी दुर्दशा का सच्चा कारण है। अतः इन श्रमजीवियों की दुरवस्था को दूर करने के उपाय ये हैं—सबसे पहले हम कबूल कर लें कि हमारे समाज में गुलामी की प्रथा—किसी आलंकारिक भाषा में नहीं बल्कि सरल-से-सरल अर्थ में—विद्यमान् है। अर्थात् अल्प-संख्यक लोगों के हाथों में बहु-संख्यक लोग जकड़े हुए हैं। दूसरे इस गुलामी के कारणों को ढूंढना और तीसरे उन कारणों को जान लेने पर उनको दूर करने के लिये जी-जान से यत्न करना।

: ८ :

गुलामी क्या है ?

इस युग की गुलामी का प्रधान कारण क्या है ? वे कौन-सी शक्तियां हैं, जो कुछ लोगों को दूसरों का गुलाम बना देती हैं ? यदि हम रूस, यूरोप, और अमेरिका के तमाम श्रमजीवियों से—उन सब मजदूरों से—जो कल-कारखानों में, मिलों में और भिन्न-भिन्न शहरों तथा देहात में स्थान-स्थान पर हमें मजदूरी करते हुए दिखाई देते हैं, पूछें कि तुम क्यों इस तरह मजदूरी कर रहे हो तो वे निश्चय ही उत्तर देंगे कि क्या करें पेट ले आया। जब और कुछ न रहा तो यही करना पड़ता है और घर-घर मारे-मारे घूमना पड़ता है। उनकी इस मजबूरी के कारण क्या हो सकते हैं ? यही कि, या तो उनके पास कोई जमीन नहीं रह गई, जिसमें वे काम कर अपना निर्वाह कर सकें, या उनसे इतने कर मांगे गये कि बिना अपना परिश्रम या जमीन बेचे वे उन्हें दे नहीं सकते थे। तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि वे कारखानों में इसलिए रहते हैं कि उन्होंने अपनी आदतें बिगाड़ ली हैं, अधिक विलासी बन गये हैं। मनुष्य अपनी स्वाधीनता और परिश्रम को बेचकर ही विलास का उपभोग कर सकता है।

पहली दो बातें अर्थात् (१) जमीन का अभाव या आवश्यकता और (२) कर, उसे अपना परिश्रम बेचने को मजबूर करते हैं, और तीसरी

बात अर्थात् उसकी बढ़ी हुई और असंतुष्ट कामनायें या आवश्यकतायें—उसे उस गुलामी में जकड़े रखती हैं।

हम कल्पना कर सकते हैं कि हेनरी ज्यार्ज की योजना के अनुसार जमींदारों से जमीनें निकालकर श्रमजीवियों की गुलामी के पहले कारण को दूर किया जा सकता है। एक कर की योजना के अलावा हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि तमाम करों को रद्द कर या गरीबों से उठाकर उनको अमीरों पर लगाया जा सकता है। पर तीसरी बात सबसे कठिन जान पड़ती है। जब तक यह वर्तमान आर्थिक संगठन बना रहेगा, आदमी उस स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकता कि जब धनी लोग अधिकाधिक और विलासी आदतों को अख्तियार न करेंगे। यही आदतें धीरे-धीरे गरीबों में भी, जो कि नित्य इन श्रीमानों के सम्पर्क में आते रहते हैं, फौरन फैल जावेंगी क्योंकि यह बिलकुल स्वाभाविक बात है कि सूखी जमीन पानी को फौरन सोख लेती है। वर्तमान आर्थिक संगठन के रहते हुए हम यह भी खयाल नहीं कर सकते कि ये आदतें इन गरीब लोगों के लिए इतनी आवश्यक न हो जावेंगी कि वे उनके शिकार बनकर अपनी स्वाधीनता को बेचने के लिए तैयार होंगे।

इसलिए यह तीसरी शर्त यद्यपि मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है, (अर्थात् मामूली तौर पर हमें मालूम होता है कि आदमी प्रलोभन का प्रतिकार कर सकता है) और यद्यपि विज्ञान यह मंजूर नहीं करता कि वह भी श्रमजीवियों की दुर्दशा का एक कारण है तथापि यही इस गुलामी का सबसे अधिक मजबूत और दुर्निवार कारण है।

अमीरों के पास रहने वाले श्रमजीवियों को प्रायः नई आवश्यकतायें हमेशा सताती रहती हैं और उनकी पूर्ति तभी हो सकती है जब वे उसके

लिए अधिक-से-अधिक समय कठिन परिश्रम करते हैं। अतः अमेरिका और इंग्लैण्ड के मजदूरों को अपने जीवन निर्वाह के लिए जितने धन की आवश्यकता होती है उससे दसगुनी अधिक मजदूरी मिलने पर भी वे ठीक पहले ही की तरह गुलाम बने रहते हैं।

: ६ :

जमीन, जायदाद और कर सम्बन्धी कानून

समाज में ऐसे कई नियम और परिस्थितियां हैं जो श्रमजीवियों को पूंजीपतियों के अधीन रहने पर मजबूर करती हैं। जर्मनी के साम्यवादियों ने इन सबको एकत्र करके उन्हें एक नवीन नाम दे दिया है। वे इन्हें 'वेतन के लौह-नियम' कहते हैं। लौह से उनका मतलब है कठोर-अपरिवर्तनीय। पर इन नियमों में ऐसी एक भी बात नहीं जिसको हम बदल न सकते हों। ये तो हमारे जमीन-जायदाद और करों से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्य के बनाये कानूनों के उपनियम मात्र हैं। कानून तो आखिर मनुष्यों की ही सृष्टि हैं। उन कानूनों को तोड़ने-मरोड़ने का मनुष्यों को पूरा अधिकार है। गुलामी का जनक कोई प्राकृतिक नियम नहीं बल्कि मनुष्य का बनाया कानून ही है। प्रकृत उदाहरण में स्पष्ट और निश्चित है कि हमारे युग की यह गुलामी भी किसी भी प्राकृतिक नियम का फल नहीं बल्कि कर, जमीन और जायदाद-सम्बन्धी मनुष्य के बनाये कानूनों का परिणाम है। समाज में ऐसे कानून हैं जिनके अनुसार एक ही मनुष्य अपरिमित जमीन का मालिक हो सकता है और वह बाप से बेटे को विरासत में या मृत्यु-पत्र की रू से मिलती चली जाती है या किसी दूसरे शख्स को बेच दी जा सकती है। एक दूसरे प्रकार के कानून हैं जिनके

अनुसार प्रत्येक को उससे मांगे जाने वाले तमाम कर बिना किसी पूछ-ताछ के दे देने चाहिए। एक तीसरे प्रकार का कानून भी है जिसके अनुसार मनुष्य अपने पास की तमाम वस्तुओं का—फिर वह किसी भी उपाय से प्राप्त क्यों न की गई हों, सम्पूर्णतया मालिक बन जाता है और इन्हीं कानूनों का परिणाम है यह गुलामी।

इन तमाम कानूनों के हम इतने आदी हो गये हैं कि वे हमें बिलकुल न्याय्य और आवश्यक प्रतीत होते हैं, जैसे कि गुलामी की प्रथा पुराने जमाने में मालूम होती थी। और यह स्वाभाविक भी है। पर समय पाकर लोगों ने गुलामी की प्रथा की भयंकरता का दर्शन किया और वे उन कानूनों की न्याय्यता के विषय में सन्देह करने लगे जो गुलामी को प्रचलित किये हुए थे। इसी प्रकार वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के दुष्परिणामों के प्रकट होते ही हमारे दिलों में भी स्वभावतः जमीन-जायदाद और कर-सम्बन्धी वर्तमान कानूनों में, जिनके कारण यह स्थिति पैदा हो गई है, अनायास ही संदेह उत्पन्न होने लग गया है।

पुराने जमाने के लोग पूछते थे, क्या यह उचित है कि कुछ लोग दूसरों को खरीद कर अपना दास बना लें, जिनका किसी चीज के ऊपर कोई अधिकार ही न हो, बल्कि उल्टा वे जो कुछ भी पैदा करें अपने मालिक को ही दे दिया करें? उसी प्रकार अब हमें भी अपने-आप से यह सवाल पूछना चाहिए कि क्या यह न्याय्य है कि मनुष्य उस जमीन का उपयोग न करे जो दूसरे के नाम पर दर्ज हो? क्या यह न्याय्य है कि मनुष्य से उसके परिश्रम के फल का जितना बड़ा हिस्सा कर के रूप में मांगा जाय, वह दे दिया करे? क्या यह न्याय्य है कि मनुष्य किसी ऐसी वस्तु का उपयोग न करे जो दूसरे की सम्पत्ति समझी जाती है।

क्या मनुष्य को ऐसी जमीन का उपयोग नहीं करना चाहिए जो दूसरे की सम्पत्ति हो, पर जिसे वह अन्य मनुष्य स्वयं जोतता न हो ?

कहा जाता है कि यह कानून खेती की तरक्की को ध्यान में रखते हुए बनाया गया है। दलील यह है कि यदि खेती की उन्नति करनी है तो जमीन पर मनुष्य की मालिकी होना लाजिमी है। यदि जमीनें परम्परा द्वारा अर्थात् बाप से बेटे के पास न जा सकें, यदि उसके अधिकार के विषय में अनिश्चतता बनी रहे तो लोग एक दूसरे को निकाल भगावेंगे। अनिश्चितता के कारण कोई अपनी जमीन पर, उसको सुधारने की गरज से, दिल से परिश्रम न करेगा। क्या यह सच है? इसका उत्तर तो भूतकाल का इतिहास और वर्त्तमान की घटनायें देंगी। इतिहास कहता है कि जमीनें किसी मनुष्य के अधिकार में इसलिए नहीं दी गई कि वह निश्चित हो उस पर मिहनत करे, बल्कि बात यह थी कि विजेताओं ने जनता से जमीनें छीनकर उन लोगों को दे दीं जिन्होंने उनकी सहायता की। अतः यह सिद्ध है कि किसानों की तरक्की की भावना से प्रेरित होकर जमीनें उनकी अधीनता में नहीं दी गईं। वर्त्तमान वस्तु-स्थिति भी उपर्युक्त दावे की असत्यता को प्रमाणित करती है। हाँ, कहा जरूर यों जाता है कि जमीनों की मिल्कियत उन पर मिहनत करने-वालों को यह विश्वास दिलाती है कि जमीनें उनसे छीनी नहीं जायंगी। पर यथार्थ में ठीक इसके विपरीत ही हुआ है और हो रहा है। जमीनों के स्वामित्व के अधिकार से, जिससे कि बड़े-बड़े जमीदारों ने बेहद फायदा उठाया है और प्रतिदिन उठाते रहे हैं, यही फल न हुआ है आज

वे बहु-संख्यक किसान दूसरों की जमीनें जोत रहे हैं, और उनके मुहताज हो गये हैं ? जब जमीदारों की इच्छा हो, किसान बेदखल किये जा सकते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ है कि जमीनों के स्वामित्व का वर्तमान तरीका, किसानों के इस अधिकार की रक्षा नहीं करता कि वह जमीन पर बहाये हुए अपने पसीने के फल का आप ही उपभोग करें। बल्कि हो यह रहा है कि कड़ी मिहनत से काम करने वाले किसान के हाथ से जमीन निकालकर निकम्मे जमीदारों के हाथों में सौंपने का वह एक तरीका है। अतः यह खेती के बनाने का नहीं उसे बिगाड़ने का तरीका है।

× × × ×

करों के विषय में यह कहा जाता है—लोगों को कर इसलिए देना चाहिए कि वे सबकी सम्मति से, भले ही वह सम्मति मूक ही हो, लगाये गये हैं। दूसरे, उनका उपयोग जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति और लाभ के लिए किया जाता है। क्या यह भी सच है ?

इसका भी उत्तर इतिहास और वर्तमान घटनायें भली-भांति दे सकती हैं। इतिहास यह डंके की चोट से कहता है कि कर कभी सर्व-साधारण की सम्मति से नहीं लगाये गये। बल्कि इसके विपरीत हुआ यह है कि जब किसी जाति ने दूसरी जाति पर (युद्ध करके या अन्य किसी चाल से, अपनी सल्तनत कायम की तब उसने विजित जाति पर अपने कर लगा दिये, इस गरज से नहीं कि उन करों को लेकर वह सर्व-साधारण के उपयोगी कामों में लगा दे बल्कि सिर्फ अपने ही लाभ के लिए। और यही आज भी हो रहा है। वे ही लोग कर ले रहे हैं जिनके हाथों में

शक्ति है। यदि इन करों के किसी हिस्से का उपयोग किसी सार्वजनिक काल के लिए किया भी जाता है तो वह काम भी ऐसा ही होता है जिससे लाभ के बजाय जनता की हानि ही अधिक होती है।

एक उदाहरण लीजिए। रूस में एक किसान की आय का पूरा तीसरा हिस्सा करों के रूप में उससे वसूल कर लिया जाता है; और राज्य की आय का केवल पचासवां हिस्सा जनता की सबसे बड़ी आवश्यकता अर्थात् शिक्षा पर खर्च किया जाता है। खैर, सो भी अच्छी हो सो नहीं। बच्चों को पढ़ाने का ढंग ऐसा विचित्र है कि उनकी बुद्धि को ही वह पढ़ाई कुचल डालती है। फलतः जनता को लाभ तो उल्टे हानिही अधिक होती है। शेष उनचास हिस्से अनावश्यक और हानिकर बातों में मसलन फौज को सजाने, सैनिक-रेलें, किले; जेल आदि बनाने, पादड़ियों का भरण-पोषण करने, अदालत चलाने, मुल्की और फौजी अफसरों को तनख्वाहें चुकाने तथा इन करों को उगाहने वाले अधिकारियों की तनख्वाहें आदि में खर्च होते हैं।

यही बात न केवल फारस, तुर्कस्तान और भारत में बल्कि उन तमाम देशों में हो रही है जो सुसंगठित ईसाई राष्ट्र हैं और जहां प्रजासत्तात्मक राज्य भी है। कर वसूल करते समय कर दाताओं की इच्छा, अनिच्छा, सम्मति-असम्मति की कोई परवा ही नहीं करता, न इस बात की परवा की जाती है कि कर केवल उतने ही वसूल किये जायँ जितने आवश्यक हों। यह भी नहीं। कर तो ज्यादा-से-ज्यादा जितना वसूल किया जा सकता है ले लिया जाता है। (यह बात किसी से छिपी नहीं कि प्रातिनिधिक राज्यसभाओं का संगठन कैसा होता है और उनमें बैठने वाले सदस्य जनता के कहाँ तक सच्चे प्रतिनिधि होते हैं।) फिर वे सर्व-साधा-

रण के लाभ के लिए भी खर्च नहीं किये जाते बल्कि उन्हीं कामों के लिए खर्च होते हैं जिन्हें शासक-वर्ग अपने लिए आवश्यक समझते हैं। और ये बातें यही न हैं—क्यूबा या फिलिपाइन्स महायुद्ध का संचालन; ट्रान्स-वाल की सम्पत्ति हड़पने और हजम करने के उपाय आदि। अतः यह दलील, कि लोगों को कर इसलिए देने चाहिए कि वे उनकी सम्मत्ति से लगाये गये हैं और वे उन्हीं के लाभ के लिए खर्च होते हैं, उतनी ही व्यर्थ और अन्याय्य है जितनी कि जमीनों को मनुष्यों की खानगी सम्पति बना देना खेतों की उन्नति के लिए परमोपयोगी और आवश्यक है, यह बताने वाली दलील है।

× × × ×

क्या यह ठीक है कि लोगों को अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए उन आवश्यक चीजों का उपयोग नहीं करना चाहिए जो दूसरों की सम्पत्ति हैं ?

कहा जाता है कि उपार्जित वस्तुओं पर मनुष्य का स्वत्व इस लिए प्रस्थापित किया जाता है कि काम करने वाले को इस बात का विश्वास रहे कि उसके परिश्रम का फल कोई उससे छीन न सकेगा।

क्या यह सच है ?

सरासर झूठ। आपके आस-पास संसार में क्या हो रहा है? उधर केवल एक दृष्टिपात करके देख लीजिए कि वास्तविकता इस कथन के कितनी विपरीत है।

समाज में उपार्जित वस्तुओं पर स्वत्व प्रस्थापन करने के अधिकार या कानून का परिणाम ठीक-ठीक वही हुआ है जिसे वह रोकना चाहता

था। यही कि श्रमजीवियों द्वारा जो चीजें पैदा की गईं हैं और की जा रही हैं वे सब उन लोगों के पास हैं और ज्यों-ज्यों वे पैदा होती जाती हैं, उनके द्वारा ले ली जाती हैं, जिन्होंने उन चीजें को पैदा नहीं किया।

जमीन के स्वामित्व के उस कानून की बनिस्बत यह कथन और भी अधिक अन्यायपूर्ण है कि उपार्जित वस्तुओं पर स्वत्व-प्रस्थापन का अधिकार श्रमजीवियों को इस बात का निश्चय दिला देता है कि अपने परिश्रम के फल का उपभोग वे ही करेंगे! यह भी उसी शुष्क सिद्धान्त पर आधार रखता है जो जमीन वाले कानून की जड़ में है। पहले तो उनके परिश्रम का फल उनसे अन्याय और बल-पूर्वक छीन लिया जाता है और फिर बीच में एकाएक कानून कूद पड़ता है। अब वही चीजें जो कि श्रमजीवियों से अन्याय और बल-पूर्वक छीन ली गई हैं उन लोगों की निजी सम्पत्ति कहाने लग जाती हैं जिन्होंने कि उन चीजों को चुरा लिया है, श्रमजीवियों से जबरदस्ती छीन लिया है।

सम्पत्ति—मसलन् एक कारखाना अनेक छल-कपट से प्राप्त कर उसमें श्रमजीवियों के परिश्रम का फायदा उठाया जाता है, पर फल समझा जाता है धनिकों के परिश्रम का और एक पवित्र वस्तु मानी जाती है। पर कैसा आश्चर्य है कि उन कारखानों में मरनेवाले मजदूरों का जीवन, उनका परिश्रम, उनकी निजी सम्पत्ति नहीं, बल्कि कारखाने के मालिक की समझी जाती है बशर्ते कि वह मजदूरों की आवश्यकता या गरज का फायदा उठा कर उन्हें किसी ऐसे प्रकार से बांध ले जो कानूनन् जायज समझा जा रहा हो। लाखों मन नाज व्यापारी लोग आसामियों से जबरदस्ती या अन्य कितने ही उपायों-द्वारा छीन लेते हैं और वह धनियों की सम्पत्ति कहाने लग जाता है। खेत में किसान परिश्रम करता है, नाज बोता है, उसकी रक्षा करता

है, पर वह किसी दूसरे ही शख्स अर्थात् जमींदार की सम्पत्ति समझी जाती है। यह क्यों ? इसलिए कि उसने किसानों से जमीन को छीननेवाले किसी अपने पितामह या प्रपितामह से उस जमीन को विरासत में पाया है। कहा जाता है कि कानून सब की सम्पत्ति की निष्पक्ष भाव से रक्षा करता है, फिर वह मिल-मालिक हो या उन मिल का कोई कर्मचारी, पूंजीपति हो या धनहीन मजदूर, जमींदार हो या किसान। पर यह निष्पक्षता कैसी ? दो योद्धाओं में से एक के तो हाथ जकड़ दिये जाते हैं और दूसरे को शस्त्र दे दिये जाते हैं। और फिर यह कहा जाता है कि अब हम किसी का पक्ष नहीं करेंगे। मतलब यह कि न्याय और गुलामी पैदा करने वाले उन तीन प्रकार के कामों की आवश्यकता का कारण सरासर असत्य है। उतना ही असत्य जितनी कि पुरानी गुलामी-प्रथा के समर्थन में पेश की गई न्याय और आवश्यकता की दलीलें थीं। ये तीनों प्रकार के कानून और कुछ नहीं, पुरानी गुलामी प्रथा के सिंहासन पर अधिकार जमाने वाली उससे अधिक शक्तिशाली गुलामी मात्र है। पुराने जमाने के लोगों ने कानून बना कर एक जाति के लोगों को दूसरी जाति के मनुष्यों को बेचने—खरीदने और आधीनता में रख उनसे मनमाना काम लेने का अधिकार दे दिया और गुलामी का जन्म हुआ। आज भी समाज में कुछ लोगों ने ऐसे कानून बनाये कि कोई उस जमीन का उपभोग न करे जो दूसरे की समझी जाती है; प्रत्येक मनुष्य उन सब करों को बिना उजर दे दे जो उससे मांगे जावें और किसी ऐसी चीज का उपयोग न करें जो दूसरे की सम्पत्ति मानी जाती हो। और यही है हमारे युग की इस गुलामी की जड़।

: १० :

गुलामी की जड़—कानून

हमारे जमाने की यह गुलामी जमीन, जायदाद और कर सम्बन्धी तीन प्रकार के कानूनों का परिणाम है। इसलिए जितने भी लोग उन श्रमजीवियों की दशा को सुधारना चाहते हैं, सबके प्रयत्न अज्ञाततः इन्हीं तीनों प्रकार के कानूनों के खिलाफ रहेंगे।

कोई मजदूरों पर के करों को उठाकर धनिकों पर लादने का प्रयत्न करते हैं तो दूसरे जमीन का व्यक्तिगत स्वामित्व ही नष्ट कर देना अपना धर्म समझते हैं। न्यूजीलैंड और अमेरिका के किसी राज्य में इस दिशा में प्रयत्न भी हो रहे हैं। आयर्लैंण्ड में जमींदारों के अधिकारों को नियन्त्रित करने की हल-चल का उद्देश भी यही है। सुधारकों का एक तीसरा दल है—साम्यवादी। ये उत्पादक साधनों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना देना, आय और विरासतों पर कर बढ़ा देना और पूंजीपति मालिकों के अधिकारों को नियन्त्रित करना चाहते हैं।

यह देखकर मनुष्य को स्वभावतः यही मालूम होगा कि अब के कानून रद हो जावेंगे और फलतः गुलामी का भी अंत अनक़रीब है। पर हमें केवल उन शर्तों का अधिक सूक्ष्मता-पूर्वक निरीक्षण करने की

देर है, जिनके कानून की ये धारायें रद की जा रही हैं अथवा इसके लिए प्रयत्न हो रहा है और हमें यकीन हो जायगा कि मजदूरों की दशा को सुधारने के ये सब सैद्धान्तिक और व्यवहार्य उपाय पुरानी गुलामी के स्थान पर एक नवीन प्रकार की गुलामी को प्रतिष्ठित करने के कानून की रचना-मात्र हैं। कैसे, सो देखिये। मजदूरों पर से करों को उठाकर धनवानों पर उन्हें लादने वाले शेष सब बातों सम्बन्धी कानूनों को ज्यों-के-त्यों रहने देंगे। पर यथार्थ में इन्हीं चीजों पर करों का भार है। मसलन् जमीनों, उत्पादक साधनों, और अन्य वस्तुओं का स्वामित्व। इसलिए जमीन और जायदाद-सम्बन्धी कानूनों को अछूता रहने देने से करों के उठ जाने पर भी मजदूर, जमींदारों और पूंजीपतियों के उसी प्रकार गुलाम बने रहते हैं।

कुछ लोग, मसलन् हेनरी ज्यार्ज और उसके साथी जमीनों के स्वामित्व-सम्बन्धी कानूनों को तो रद कर देना पसंद करते हैं, पर उसके स्थान पर जमीनों पर भारी किराया लगाकर इस सुधार को किसानों के लिए निरर्थक बना डालते हैं। इस किराये से गुलामी जरा भी नहीं घटेगी, बल्कि एक नवीन गुलामी-मात्र निर्माण होगी। क्योंकि किसी वर्ष फसल न पकने के कारण किसान को तो अवश्य अपनी जमीन का किराया या कर चुकता करने के लिए रुपया लेने को किसी साहूकार की शरण लेनी पड़ेगी। और वह वहां गया नहीं कि गुलामी में फंसा नहीं।

अब साम्यवादियों की योजना का निरीक्षण करें। सिद्धान्त में वे खानगी सम्पत्ति और उत्पादक साधनों के स्वामित्व-सम्बन्धी कानूनों को रद कर करों से सम्बन्ध रखने वाले कानूनों को ज्यों-के-त्यों रहने देना चाहते हैं। बल्कि वे तो कुछ और भी करने जा रहे हैं। वे तो अनिवार्य परिश्रम

का कानून बना देना चाहते हैं। मतलब यह कि वे अत्यन्त बुरी तरह की गुलामी को समाज में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

अतः गुलामी को उत्तेजना देने वाले कानूनों को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से रद करने के तमाम तरीके अवश्य ही किसी-न-किसी ऐसे कानून की रचना करते हैं जिससे एक नवीन प्रकार की ताजी गुलामी समाज में प्रवेश कर जाती है।

एक जेलर किसी कैदी की बेड़ियां पैरों से निकाल कर हाथों में या हाथों से निकालकर गले में डाल देता है। या उन बेड़ियों को बिलकुल अलग रखकर उसे काठ के खोड़े में जकड़ देता है। मजदूरों की दशा सुधारने के ख्याल से अबतक जितने सुधार किये गये हैं सब इसी प्रकार के थे।

पहले मालिक अपने गुलामों से मनमाना काम लिया करते थे। बाद में ऐसे कानूनों की रचना हुई कि तमाम जमीनें मालिकों के हाथों में चली गईं। फिर इन कानूनों को रद कर नये कानूनों के द्वारा नवीन करों की वृद्धि होगी। ओह! आखिर इन नवीन करों पर अधिकार किसका होगा? उन्हीं मालिकों का। और शायद इसके बाद कर-सम्बन्धी कानूनों को रद कर उपयोगी वस्तुयें और उत्पादक साधनों के स्वामित्व-सम्बन्धी नवीन कानूनों की सृष्टि होगी। बाद में इन कानूनों को भी रद कर अनिवार्य मज-दूरी के कानूनों का निर्माण होगा।

इससे यह स्पष्ट है कि किसी एक या दो तरह के गुलामी पैदा करने वाले जमीन, जायदाद, कर या उत्पादक साधन-सम्बन्धी कानूनों को रद कर देने से गुलामी का अन्त नहीं हो सकता। इससे तो केवल गुलामी के प्रकारों में ही परिवर्तन होता है जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। न इन

तीनों प्रकार के कानूनों को रद करने से ही गुलामी नष्ट हो सकती है। इससे तो एक और भी नई गुलामी का उदय होगा जिसके चिह्न हम अभी से देख रहे हैं। मजदूरों के काम के घन्टे, उम्र और स्वास्थ्य, पाठशालाओं में अनिवार्य उपस्थिति, वृद्धावस्था में जान का बीमा कराने तथा आकस्मिक घटना आदि के कारण काटे जाने वाले दामों-द्वारा तथा कारखाने के निरीक्षण आदि-सम्बन्धी कानूनों द्वारा मजदूरों की स्वाधीनता को नवीन रूप से जकड़ना फिर शुरू हो गया है। यह और कुछ नहीं, केवल संक्रमण-कालीन कानून हैं जो एक नवीन और अननुभूत प्रकार की गुलामी को निर्माण करने जा रहे हैं।

अब यह स्पष्ट है कि गुलामी का कारण कोई खास एक या दूसरी ही तरह का कानून नहीं बल्कि कानून-मात्र हैं। गुलामी का कारण यह है कि हमारे समाज में कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने मतलब के कानून बना सकते हैं और दूसरों को उन पर चलने के लिए बाध्य कर सकते हैं। अतः संसार से तबतक गुलामी का अन्त नहीं हो सकता जबतक लोगों के हाथों में कानून बनाने की शक्ति या अधिकार बना रहेगा।

प्राचीन काल में लोगों के लिए गुलामों को रखना फायदेमन्द था। इसलिए उन्होंने तत्सम्बन्धी कानून बनाये। बाद में पाया गया कि जमीन रखना, कर लेना और अपनी चीजें अपने ही पास रख लेना अधिक फायदेमन्द है, तो इसके सम्बन्ध में कानून बने। अब लोग देखते हैं कि श्रम-विभाग के वर्तमान स्वरूप और सभ्यता को बनाए रखना अच्छा है तो इस सम्बन्ध में भी कानून बनने लगे। लोगों को इस वर्तमान व्यवस्था के अनुसार कानूनों-द्वारा मजबूर करने के उपाय होने लगे। अतः

गुलामी की जड़ है कानून—यह वस्तु-स्थिति कि संसार में कुछ लोग ऐसे हैं जो कानून बना सकते हैं।

पर कानून क्या है? वह क्या वस्तु है जो इन लोगों के हाथों में कानून बनाने की शक्ति रख देती है?

: ११ :

सुसंगठित हिंसा कानूनों की जननो है

कानून कैसे बनाये जाते हैं ? कानून बनाने की शक्ति मनुष्यों में कैसे आती है ?

इस विषय का तो एक भारी शास्त्र ही है जो राजनीति से भी शायद अधिक प्राचीन, अधिक कुटिल और अधिक भ्रामक है। इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए, इसके सेवकों ने पिछली सदियों में लाखों किताबें लिख डाली हैं जो आपस ही मे प्रायः एक दूसरे का विरोध करती हैं। राजनीति इस प्रश्न का उत्तर नहीं देती कि हमारी आदर्श राज्य-व्यवस्था कैसी है। उसी प्रकार यह न्याय-विवेक-शास्त्र भी अधिकारों की मीमांसा, कर्त्ता-कर्म, राज्य-विषयक कल्पनायें तथा इसी प्रकार के कितने ही ऐसे वक्तव्यों और विवरणों से भरा पड़ा है जिसे न तो इस विषय के विद्यार्थी भली-भांति समझ सकते हैं और न स्वयं शिक्षक ही। और मज़ा यह है कि अन्त में यह प्रश्न यों ही रखा रह जाता है कि कानून-रचना क्या है ?

विज्ञान कहता है कि कानून-रचना सम्पूर्ण जनता की इच्छा का प्रदर्शन है। पर यदि हम सूक्ष्मतापूर्वक देखें तो हमें स्पष्टतया ज्ञात होगा कि यह कल्पना मिथ्या है। समाज में ऐसे ही लोगों को संख्या अधिक है जो

कानूनों को भंग करते हैं या कम-से-कम ऐसा करने की इच्छा तो जरूर रखते हैं। जहां कहीं वे कानूनों को भंग नहीं करते वहां इस इच्छा का अभाव नहीं बल्कि उससे मिलने वाली सजा का डर है। तब यह स्पष्ट है कि जब स्वेच्छा-पूर्वक कानूनों का पालन करने वालों की संख्या से उसको भंग करने वाले ही अधिक हैं तब यह कैसे कहा जा सकता है कि कानून सम्पूर्ण जनता की इच्छा से ही बनाये जाते हैं?

कानून कई प्रकार के हैं। एक कहता है कि तार के खम्भों को कोई चोट नहीं पहुंचावे। दूसरा आज्ञा करता है कि लोगों को अमुक व्यक्तियों का आदर करना चाहिए। तीसरा आदेश करता है कि प्रत्येक मनुष्य को अनिवार्यतः सैनिक शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए या पंच बनकर न्याय में सहायता करनी चाहिए। चौथा हुक्म करता है कि कोई अमुक सीमा-प्रदेश से बाहर अमुक-अमुक चीजें न ले जावे। पांचवां आज्ञा करता है कि जो जमीन दूसरे की सम्पत्ति समझी जाती हो उसका मालिक के सिवा कोई उपभोग न करे। छठा कहता है कि जो जाली रुपये बनायेगा उसे अमुक-अमुक सजा दी जायगी। सातवां कहता है दूसरे की चीजों का कोई उसकी इजाजत के बिना उपयोग न करे। इस तरह सैकड़ों कानून हैं।

ये सब और अन्य कितने ही कानून अत्यन्त जटिल हैं और न जाने कितने भिन्न-भिन्न हेतुओं को लेकर बनाये गये हैं। पर इनमें से एक भी जन-समूह की इच्छा को प्रकट नहीं करता है। हां, इनमें एक सर्व-सामान्य बात जरूर है। यदि कोई उनको पालन करने से इनकार करता है तो कानून के रचयिता उसके पास सशस्त्र सैनिक भेजते हैं, जो कानून की अवज्ञा करने वाले को इस अपराध के लिए मारते, पीटते, कैद कर देते या जान से मार डालते हैं।

उसी प्रकार यदि कोई मनुष्य उससे मांगे जाने वाले करों को देने से इनकार कर दे तो यही सलूक उससे भी होगा। सशस्त्र पुरुष आवेंगे और और उससे कर मागेंगे। यदि वह देने से इनकार करेगा तो बल-पूर्वक उसके यहां से निकालकर ले जायंगे। यदि वह इसमें भी आपत्ति करेगा और प्रतिकार करने के लिए खड़ा हो जायगा तो उसे पीटा जायगा, कैद कर लिया जायगा या वहीं गोली मार दी जायगी। दूसरे की मालिकी की जमीन का उपयोग कानून की आज्ञा के खिलाफ करने वाले की भी यही दशा होगी। दूसरे की वस्तुओं का अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अथवा अपने काम को सरल करने के लिए उपयोग करने वाले को भी यही दण्ड दिया जायगा। शस्त्रधारी पुरुष आकर उससे वस्तु को छीन लेंगे। उसने प्रतिकार करने की कोई तैयारी दिखाई नहीं कि उन्होंने उसे मारा, कैद किया या गोली चलाई नहीं। यही सजा उन पुरुषों का निरादर करने वाले को दी जायगी जिनका आदर करने के लिए कानून आदेश करता है। सैनिक शिक्षा प्राप्त करने से इनकार करने वाले और नकली सिक्के बनाने वाले को भी निःसन्देह यही दण्ड दिया जायगा।

प्रतिष्ठित कानूनों की प्रत्येक अवज्ञा के लिए सजा रखी हुई है। अवज्ञाकारी को कानून के रचयिता पीटते हैं, कैद करते हैं या जान से मार डालते हैं।

अंगरेज और अमेरिका के शासन-विधानों से लेकर जापान और तुर्किस्तान तक कितने ही शासन-विधान बने जिनके अनुसार लोगों को यह विश्वास करना पड़ता है कि उनके देश में माने जाने वाले तमाम कानून उनकी अपनी इच्छा से ही बने हुए हैं। पर इस बात को प्रत्येक मनुष्य जानता है कि प्रत्येक एकायत्त निरंकुश शासन वाले ही नहीं बल्कि

इंग्लैंड, अमेरिका जैसे नाम-मात्र को स्वाधीन माने जाने वाले देशों में भी कानून देश की जनता की इच्छा के अनुसार नहीं; बल्कि शासन-यन्त्र के संचालकों के इच्छानुसार बनाये जाते हैं, फिर वे एक हों या अनेक। वे फायदेमन्द भी होते हैं उन्हीं शासकों के लिए। लोगों को उन कानूनों का पालन करने के लिए मजबूर करने का भी एक-मात्र तरीका है कोड़े, कैद या फांसी। सिवा इसके दूसरा उपाय ही नहीं है।

और हो भी नहीं सकता। क्योंकि कानून के मानी हैं अमुक नियमों अर्थात् सत्ताधारियों की इच्छा पालन करने का आदेश। इसका पालन कराने का एक ही मार्ग है कोड़े, कैद या फांसी। जहां कानून है वहीं ऐसी शक्ति भी जरूर है जो उनका पालन करने के लिए लोगों को मजबूर कर सकती हो। इस शक्ति का नाम है हिंसा-बल-प्रयोग। साधारण बल-प्रयोग नहीं, जो मामूली मनुष्य गुस्से में एक दूसरे के प्रति करते हैं। यह तो सत्ताधिकारियों का सुसंगठित बल-प्रयोग है, जो वे दूसरों के द्वारा अपने कानूनों का (अर्थात् अपनी इच्छा का) पालन कराने के लिए करते हैं।

अतः यह समझना निरा भ्रम है कि कानूनों की रचना कर्त्ता-कर्म या अधिकारों तथा स्वत्त्वों की रक्षा के ख्याल से होती है। यह ख्याल करना भी गलत है कि कानून जनता की इच्छा के अनुसार या ऐसे ही अन्य अनियमित और विविध कारणों को लेकर बनाये जाते हैं। कानून तो इसलिए बनाये जाते हैं कि सत्ताधारियों के हाथों में वह सुसंगठित शक्ति होती है जिसके द्वारा वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए अन्य लोगों को मजबूर कर अपनी मनमानी करा सकते हैं।

अतः कानून-रचना की सर्वसाधारण की समझ में आने योग्य,

निश्चित और ठीक-ठीक परिभाषा यह होगी:—

कानून वे नियम हैं जिनको हिंसा के बल पर देश के शासन का संचालन करने वाले बनाते हैं और जिनकी अवज्ञा के पुरस्कार में अवज्ञा करने वाले को कोड़े, कैद या फांसी की सजा दी जाती है।

यह परिभाषा उस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर देती है कि लोग किस अधिकार के बल पर कानून बनाते हैं। यह बल वही सुसंगठित हिंसा है, जो लोगों से उनकी इच्छा के खिलाफ इन कानूनों का पालन कराती है।

: १२ :

सरकारें क्या हैं ?

क्या लोग बिना सरकारों के रह सकते हैं ?

श्रमजीवियों की दुर्दशा का कारण गुलामी है। गुलामी का कारण है कानून-रचना और कानूनों की रचना सुसंगठित हिंसा के बल पर की जाती है। इसके मानी यह हुए कि यदि श्रमजीवियों की दशा का सुधार अभीष्ट है तो पहले इस सुसंगठित हिंसा को नष्ट करना अत्यावश्यक है।

पर सुसंगठित हिंसा ही तो सरकार है। और बिना सरकार के हम कैसे जी सकते हैं ? सरकार के अभाव में तो अव्यवस्था तथा अराजकता फैल जायगी, अब तक इतने यत्न से हमने जो सुधार किये हैं सब नष्ट हो जायंगे और समाज में फिर वही जंगली जमाना लौट आवेगा।

जिनके लिए वर्त्तमान व्यवस्था फायदेमन्द है उनका यह सोचना स्वाभाविक है। नहीं; बल्कि यह तो उन लोगों के लिए भी स्वाभाविक है जिसके लिए यह व्ययस्था फायदेमन्द न होने पर भी वे इसके इतने आदी हो गये हैं कि इसमें परिवर्त्तन की कल्पना तक को बरदाश्त नहीं कर सकते। वे कहेंगे सरकारों को पृथ्वीतल से मिटाते ही समाज पर घोर आपत्तियां उमड़ आवेंगी। लूट-मार, चोरी, और खून-खच्चर होने

लगेंगे और अंत में दुष्ट लोग इतने बलवान् हो जायंगे कि पुनः अपने हाथों में सत्ता लेकर तमाम भले आदमियों को अपना गुलाम बना लेंगे। पर क्या यह हमारे लिए नई बात है ? यह तो गुजर चुका है। अब भी वही हो रहा है। और भविष्य की लूट-मार व खून-खराबी की आशंका यह सिद्ध नहीं कर सकती कि वर्त्तमान व्यवस्था अच्छी है।

कहते हैं---"वर्त्तमान व्यवस्था को हाथ लगाया नहीं और बड़ी-से-बड़ी आपत्तियां समाज पर उमड़ी नहीं।"

एक हजार ईंटों का एक ऊंचा पतला स्तम्भ बनाया हुआ है। उसकी एक भी ईंट को छू दीजियेगा कि तमाम स्तम्भ का स्तम्भ धड़ाम से गिर पड़ेगा और चूर-चूर हो जायगा।

पर यह आशंका कि ऐसे स्तम्भ की एक ईंट को छूते ही सारा स्तम्भ गिरकर चूर-चूर हो जायगा यह सिद्ध नहीं करती कि ईंटों को ऐसे अस्वाभाविक और खतरनाक तरीके से एक-पर-एक रखना बुद्धिमानी का काम है। इसके विपरीत सिद्ध तो यह होता है कि ईंटों को इस खराब और खतरनाक रीति से कभी न रखना चाहिए। बल्कि उल्टा उनको इस तरह सुरक्षितता के साथ रखना चाहिए कि बिना किसी प्रकार के खतरे की आशंका के मनुष्य उसका उपयोग कर सके। यही बात वर्तमान राज्य-व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। सरकारों का संगठन अत्यंत अस्वाभाविक और अस्थायी है। यह बात उनकी उपयोगिता सिद्ध नहीं करती कि जरा-सा धक्का लगते ही बस धड़ाम से गिर पड़ेगा। बल्कि यह भय तो इस बात को सिद्ध करता है कि यदि किसी काल में वह समाज के लिए आवश्यक रहा भी हो तो आज वह बिलकुल अनावश्यक और इसलिए हानिकर तथा खतरनाक है।

वह हानिकर और खतरनाक इसलिए है कि समाज में जो कुछ भी बुराई है उसपर इस वस्तुस्थिति का असर बहुत बुरा हो रहा है। बुराई का कम होना तो दूर की बात है बल्कि वह बढ़ती ही जा रही है, और भी अधिक ही होती जा रही है। इस संस्था के कारण या तो उसे पोषण मिल जाता है या वह अधिक आकर्षक बन जाती है अथवा वह पूरी तरह छिपा दी जाती है।

सुशासित मानी जाने वाली हिंसा के बल पर शासन करने वाली राज्य-संस्थाओं में जहां कहीं भी हमें सुख-समृद्धि दिखाई देती है वह केवल मिथ्या है—ऊपरी है, दिखाव-मात्र है। इस दिखाव को असत्य साबित करने वाली तमाम चीजें---तमाम भूखे, रोगी और बुरे-से-बुरे दुर्गुणी लोग दूर एक तरफ छिपे हुए रहते हैं जहां हम उन्हें देख नहीं सकते। पर इसके मानी यह कदापि नहीं कि वे हैं नहीं। इसके विपरीत वे जितने ही हमारी आंखों से छिपे रहेंगे उतने ही वे अधिक बढ़ेंगे और उसी परिमाण में उन्हें इस दुर्दशा में डालने वाले शासक उनके प्रति अधिक निष्ठुर होंगे। यह ठीक है कि इस सरकारी कार्य अर्थात् सुसंगठित हिंसा में किसी प्रकार हस्तक्षेप करना अथवा उसका रोकना उनकी बाहरी सुव्यवस्था को भी अस्त-व्यस्त कर देता है पर इससे जो अव्यवस्था दिखाई देती है वह इस हस्तक्षेप का परिणाम नहीं बल्कि उस छिपी दुरवस्था का दर्शन-मात्र है। और यह दुरवस्था का दर्शन ही हमें उसे दूर करने में सहायक होता है।

अभी-अभी तक--उन्नीसवीं सदी के अंत तक—लोगों में यह खयाल बड़ा मजबूत-सा हो गया था कि हम बिना सरकार के रह नहीं सकते। पर ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों हमारे जीवन और लोगों के विचारों

में भी परिवर्तन होता जा रहा है। अब तो संसार की सरकारें भले ही लोगों को उस अस्वाभाविक और बच्चों की-सी अवस्था में रखने का प्रयत्न करें जिसमें कि एक दुखी आदमी किसी-न-किसी से शिकायत करने की सुविधा को अच्छी समझता है। उसी प्रकार लोग—खासकर यूरोप और रूस के श्रमजीवी लोग—भी अब इस बचपन से पार हो रहे हैं और अपनी दुर्दशा का यथार्थ कारण समझने लग गये हैं।

आजकल कई लोग शासकों से कहते हैं—

"क्या आपका यह कहना है कि यदि आपका यहाँ राज्य न हो तो पड़ोसी राष्ट्र मसलन् जापान या चीन हमें अपने अधीन कर लेंगे ? पर यह हो कैसे सकता है ? हम रोज तो अखबारों में पढ़ते हैं कि कोई हम पर आक्रमण करने के लिए नहीं आ रहा है। केवल आप ही हम पर राज्य कर रहे हैं। क्यों ? इसका कारण हम नहीं जानते। पर हाँ आप हमें आपस में लड़ाकर दिन-ब-दिन अधिक बुरा बनाते जा रहे हैं। फिर अपने लोगों की रक्षा के बहाने फौज, दर्याई बेड़ा, सैनिक, रेलें आदि के लिए नये-नये कर लगाकर हमें और भी अधिक बरबाद किये डालते हैं। पर असल में ये सब चीजें आप अपने दम्भ और महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए बनाते हैं और बाद में अन्य राष्ट्रों से युद्ध छेड़ते हैं जैसा कि आपने इस समय शांति प्रिय चीन के साथ युद्ध छेड़ रखा है। आपका कहना है कि आप हमारे ही लाभ के लिए जमीन के स्वामित्व की रक्षा करते हैं। पर आपकी इस दया का यही नतीजा न होता है कि तमाम जमीनें रुपयों का सूद बनानेवाली कम्पनियों के हाथों में, जो कभी परिश्रम नहीं करतीं, चली गई हैं या तेजी से जा रही हैं। और हम—अर्थात् देश के असंख्य किसान—निराधार बनाये जा रहे हैं—उन काहिलों के गुलाम

बनाये जा रहे हैं। आप अपनी सत्ता के बल पर जमीन के स्वामित्व की रक्षा नहीं करते, बल्कि आप तो जमीनों को उन गरीबों से छीनते जा रहे जो उन पर परिश्रम कर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। आपका कहना है "हम प्रत्येक मनुष्य को उसके अपने परिश्रम के फल का उपभोग करने देते हैं।" पर करते हैं आप इसके ठीक विपरीत। दोहाई है आपकी इस सरकार की और उसकी करतूतों की जिसकी बदौलत हम काम करने वालों को, अच्छी-अच्छी कीमती चीजें पैदा करने वालों को, कभी अपने परिश्रम का पूरा फल नहीं मिल पाता बल्कि जीवन-भर उन काहिलों की अधीनता और गुलामी में ही सड़ना पड़ता है।"

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में यूरोप के श्रमजीवियों की यह मनोदशा थी। और इधर-उधर तो वे उस निद्रा से—जिसमें कि सरकारों ने उन्हें डाल रखा है—बड़ी तेजी से जाग रहे हैं। पिछले पाँच सात वर्षों में यूरोप और अमेरिका के शहरों और देहात में ही नहीं बल्कि रूस के देहात के लोगों तक में अपूर्व जागृति की लहर फैल गई है।

लोग कहते हैं कि बिना सरकारों के समाज को वे आवश्यक संस्थायें कैसे नसीब होंगी जिनके द्वारा वह अपने बच्चों को सुशिक्षित कर सकता है, जो उसके सार्वजनिक जीवन को उन्नत बना सकती हैं।

पर हम ऐसा क्यों न मान लें? यह सोचने के लिए हमारे पास क्या आधार है कि गैर-सरकारी लोग अपने लिए भी उतनी अच्छी संस्थायें निर्माण न कर सकेंगे या उनका संचालन इतनी अच्छी तरह न कर सकेंगे जितनी कि सरकारी अधिकारी दूसरों के लिए करते हैं।

इसके विपरीत इस जमाने में हमें तो यह अनुभव हो रहा है कि कितनी ही बातों में गैर-सरकारी लोग अपने जीवन को सरकारी

लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह चलाते हैं। सरकार से जरा भी सहायता न लेते हुए और कहीं-कहीं तो सरकार के बार-बार हस्तक्षेप करने पर भी लोग कई प्रकार के सामाजिक कार्य और संस्थायें उत्तम रीति से निबाहते आ रहे हैं। श्रमजीवियों की संस्थायें, सहयोग-संस्थायें, रेलवे-कम्पनियां, और कितनी ही कला-पोषक तथा शिक्षा-संस्थायें इसका जीता-जागता प्रमाण हैं। यदि सार्वजनिक कार्यों के लिए सार्वजनिक कोष या चन्दे की आवश्यकता है और वह सच-मुच एक परोपकारी, उपयोगी कार्य है तो हम क्यों समझ लें कि स्वाधीन लोग बिना किसी बल-प्रयोग के ऐसे काम के लिए चन्दा न देंगे ? हम क्यों समझें कि बिना बल-प्रयोग के अदालतें चल ही नहीं सकतीं। वादी और प्रतिवादी जिन पर विश्वास करते हैं ऐसे पंचों-द्वारा न्याय प्राप्त करने की प्रथा नई नहीं है। और न उसके लिए बल-प्रयोग की ही आवश्यकता है। लंबी गुलामी के कारण हम इतने पतित हो गये हैं कि हम ऐसी शासन-संस्थाओं की कल्पना ही नहीं कर सकते जिनमें बल का प्रयोग न किया जा रहा हो। फिर भी यह सत्य नहीं। रूस की कितनी ही जातियां, जो दूर-दूर के प्रदेशों में बसने को चली जाती हैं, जहां हमारी सरकार उनके कार्यों में किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं करती; अपना कारोबार बिना ही बल के प्रयोग के कर रही हैं। वे कर वसूल करती हैं, उनकी अपनी शासन-संस्थायें हैं। अदालतें, पुलिस आदि सब हैं। और जबतक सरकारें उनमें हस्तक्षेप नहीं करतीं वे बराबर तरक्की करती जाती हैं। उसी प्रकार यह मान लेने के लिए भी हमारे पास कोई कारण नहीं कि लोग सर्वसम्मति से यह प्रश्न हल नहीं कर सकेंगे कि समाज की आवश्यकताओं के लिए किसे कितनी जमीन दी जाय।

मैं ऐसी जातियों को जानता हूं---मसलन उरल की कोजाक जाति---जो जमीन को खानगी सम्पत्ति मानती ही नहीं। फिर भी उनके समाज में, ऐसी व्यवस्था और समृद्धि है जो हमारे सुधरे हुए समाज में, जहां जमीन के स्वामित्व की रक्षा बल-प्रयोग से की जाती है, नहीं पाई जाती। मैं ऐसी भी जातियों को जानता हूँ जिनमें खानगी सम्पत्ति-जैसी कोई चीज ही नहीं है। यह तो मेरी जानकारी की बात है कि रूस के किसान जमीन के स्वामित्व की कल्पना को भी मंजूर नहीं करते थे। जमीन के स्वामित्व का सरकारी सत्ता के द्वारा समर्थन उस स्वामित्व के कलह को मिटाता नहीं बल्कि और भी उग्र कर देता है, और कहीं-कहीं तो उसे उत्पन्न भी कर देता है।

यदि जमीन के स्वामित्व की इस तरह रक्षा नहीं की जाती और फलतः जमीनों की कीमत भी बढ़ नहीं जाती तो लोग कभी आज-जैसी तंग जगहों में रहना पसंद न करते। वे संसार भर में फैल जाते और सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करते। अब भी संसार में काफी जमीन है, पर यहाँ तो जमीन के लिए एक-सा युद्ध जारी रहता है। और सरकार अपने जमीन के स्वामित्व-सम्बन्धी कानूनों के रूप में जनता को इस युद्ध में लड़ने के लिए शस्त्रास्त्र देती रहती है। और इस युद्ध में फायदा किनका होता है? उनका नहीं जो उस पर मजदूरी करते हैं, बल्कि फायदा तो काहिल लोग उठाते हैं जो सरकार के साथ बल-प्रयोग में हाथ बँटाते हैं।

यही बात परिश्रम से उत्पन्न होने वाली चीजों के विषय में समझिए। जिन चीजों को मनुष्य अपने परिश्रम से बनाता है, जिनकी उसे सचमुच आवश्यकता है, उनकी रक्षा तो समाज करेगा; लोकमत करेगा, न्याय

और पारस्परिक समता की भावना करेगी, उसकी रक्षा के लिए बल-प्रयोग की आवश्यकता नहीं होगी।

एक ही मालिक के पास हजारों-लाखों एकड़ परती की जमीन और जंगल पड़ा हुआ है और उसके पड़ोस में ही हजारों गरीब किसान जलाऊ लकड़ी के लिए मारे-मारे फिरते हैं। ऐसी जगह जरूर बल-प्रयोग-द्वारा उस मालिक के स्वामित्व की रक्षा करनी पड़ेगी। उसी प्रकार उन कल-कारखानों की रक्षा भी बल-प्रयोग से ही करनी होगी जहां मजदूरों की कई पुश्तें ठगी जाती रही हैं और अब भी ठगी जाती हैं। उससे भी अधिक ऐसी रक्षा की आवश्यकता होगी उस साहूकार को, जो लाखों मन नाज अपने कोठों में इसलिए भर रखता है कि अकाल के समय उसे वह तिगुनी कीमत से बेच सके। पर पूंजीपति और सरकारी अफसर को छोड़ आपको एक भी इतना निर्दय और अधम आदमी न मिलेगा जो एक श्रमजीवी किसान से उनकी फसल को या बच्चों के लिए दूध देने वाली उसकी पाली हुई गाय को अथवा उसके हल, बक्खर या हंसिया को, जिससे कि वह काम कर अपना पेट पालता है, ले ले। पर मान लीजिए कि यदि कोई आदमी दूसरे से ऐसी काम की वस्तुयें जबरदस्ती छीन भी ले, तो उससे इस कार्य से समाज में इतना रोष उत्पन्न हो जायगा कि उस आततायी के लिए उन वस्तुओं को अपने पास रख छोड़ना भी कठिन हो पड़ेगा। पर वही आदमी जब देख लेगा कि उसके इस कार्यों का समर्थन करने वाली, समाज के पुण्य प्रकोप से उसकी रक्षा करने वाली, एक सुसंगठित हिंसा-संस्था है तब तो वह जरूर ही ऐसे-ऐसे काम और भी अधिक निर्भय होकर करेगा।

कई लोग कहते हैं कि जमीन के स्वामित्व के अधिकार को जरा नष्ट

करके तो देखिए, परिश्रम के फलाधिकार को जरा शिथिल तो कीजिए, कि आपको उसी क्षण मालूम हो जायगा कि इसका क्या नतीजा निकलता है। कोई परिश्रम करने का कष्ट न उठायेगा। किसी को यह विश्वास नहीं रहेगा कि आज जो चीज उसके पास है वह कल भी उसके पास बनी रहेगी या नहीं। पर हम इसका उत्तर यों देंगे। बड़ी-बड़ी जायदादें नीति-पूर्वक इकट्ठी नहीं की जातीं। जायदाद की बल-पूर्वक रक्षा करने की प्रथा ने जनता के इस विवेक को यदि नष्ट नहीं तो बेहद कमजोर जरूर कर दिया है कि मनुष्य किस चीज का उपयोग कितना करे। इस घृणित प्रथा ने मनुष्य के स्वाभाविक साम्पत्तिक अधिकार को, जिसके बिना समाज का जीवन असंभव है, जो अब भी लोक-हृदय में कुछ अंशों में वर्तमान है, बिलकुल कमजोर बना दिया है।

अतः यह मान लेने के लिए कोई कारण नहीं कि बिना सुसंगठित बल-प्रयोग की सहायता के हम अपना जीवन भली-भांति नहीं चला सकेंगे।

हां, यह कहा जा सकता है कि घोड़ों और बैलों से विवेकवान् मनुष्य प्राणी बल-प्रयोग द्वारा काम ले सकता है। पर मनुष्य पर बल-प्रयोग क्यों कर सकता है? क्यों मनुष्य सत्ताधिकारियों के बल-प्रयोग का शिकार हो? इस बात का क्या प्रमाण है कि सत्ताधिकारी उन लोगों की अपेक्षा अधिक सुज्ञ हैं जिन पर वे बल का प्रयोग करते हैं?

केवल यही बात उन लोगों की बुद्धिहीनता का परिचय देती है कि वे अपने ही जैसे मनुष्यों पर बल का प्रयोग करते हैं। अत्याचार सहने वालों की अपेक्षा अत्याचार करने वाले अधिक बुद्धिहीन हैं। चीन में 'मन्दारिन' पद के लिए होने वाली परीक्षाओं से यह सिद्ध नहीं होता कि अच्छे-से-अच्छे और होशियार आदमियों को सत्ताधीश बनाया जाय। परम्परागत विरासत

अथवा पद-वृद्धि की योजना, या सुसंगठित देशों की चुनाव-प्रणाली भी हमें इस बात का यकीन नहीं दिलाती कि इन विभिन्न रीतियों से सत्ता प्राप्त करने वाले निश्चय ही होशियार और भले आदमी होते हैं। इसके विपरीत यह एक सिद्धान्त है कि वे ही लोग प्रायः सत्ता को शीघ्र धारण कर लेते हैं जिनमें विवेक और नीति की मात्रा कम होती है।

कोई प्रश्न करता है---लोग बिना सरकार के बिना बल-प्रयोग के जी कैसे सकते हैं ? पर इसके विपरीत सवाल तो यह होना चाहिए कि विवेकवान् लोग उचित सामञ्जस्य को छोड़ हिंसा को अपने जीवन का आवश्यक अंग कैसे माने हुए बैठे हैं और अबतक जी रहे हैं ?

केवल दो बातें हो सकती हैं, या तो लोग विवेकशील हैं या अविवेकशील हैं तो फिर सभी ऐसे हैं और प्रत्येक बात का निपटारा हिंसा के द्वारा होना जरूरी है। फिर कोई कारण नहीं कि कुछ लोगों को बल-प्रयोग का अधिकार मिले और दूसरों को नहीं। उस हालत में सरकारी हिंसा के लिए स्थान ही नहीं है। यदि मनुष्य विवेकशील हैं तो उनके सभी कार्यों में विवेक को प्रधानता मिलनी जरूरी है। फिर उन लोगों की इच्छा को कोई महत्त्व न मिलना चाहिए जो थोड़ी देर के लिए सत्ता को अपने हाथ में धारण कर लेते हैं। उस हालत में भी सरकारी हिंसा के लिए कहीं स्थान नहीं रह जाता।

: १३ :

सरकारें कैसे उठाई जायं ?

गुलामी की जड़ कानून है। कानूनों को बनाने वाली सरकारें हैं। अत: केवल सरकारों को नष्ट करने ही से लोग इस गुलामी से मुक्त किये जा सकते हैं।

पर सरकारें नष्ट कैसे की जायं ?

अबतक हिंसा-द्वारा सरकारों को नष्ट करने के लिए जितने प्रयोग और प्रयत्न किये उनका यही फल हुआ है कि पद-च्युत सरकारों के स्थान पर पहले से भी अधिक भीषण सरकारें स्थापित हो गई हैं।

भूतकाल में इस तरह से जो प्रयत्न हुए हैं उनका जिक्र मैं नहीं करता। साम्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार पूँजीपतियों के राज्य का विनाश, उत्पादक साधनों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना देना और संसार में एक नवीन अर्थ-व्यवस्था का निर्माण भी हिंसात्मक संगठन के बल पर ही स्थापित होने को है और उसी उपाय-द्वारा उसकी रक्षा—संचालन भी होगा। अत: हिंसा के बल पर हिंसा का उच्चाटन न तो कभी भूतकाल में हुआ है; न भविष्य में कभी हो सकता है। अत: गुलामी का अंत भी कभी हिंसा के द्वारा नहीं हो सकता।

बस, इसे ब्रह्मवाक्य समझिए।

बदला और गुस्से को छोड़कर बल का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब हम किसी से कोई काम उसकी इच्छा के खिलाफ कराना चाहते हैं। पर अपनी इच्छा के प्रतिकूल दूसरे की मनमानी करने की अनिवार्य अवस्था का ही नाम गुलामी है। अतः जबतक मनुष्य की इच्छा के खिलाफ उससे काम लेने के लिए हिंसा का प्रयोग होता रहेगा, गुलामी भी अवश्य ही बनी रहेगी।

हिंसा-द्वारा गुलामी को नष्ट करने का उद्योग मानों आग से आग बुझाने का, पानी से पानी रोकने का या एक गड्ढे को भरने के लिए दूसरा गड्ढा खोदने का यत्न करना है।

अतः यदि संसार से हमें गुलामी नष्ट करनी है तो इसका उपाय हमें नवीन प्रकार की हिंसा की स्थापना में नहीं मिल सकता। इसके लिए तो उन कारणों को हमें सबसे पहले नष्ट करना चाहिए जो सरकारी हिंसा के के लिए अनुकूलतायें उत्पन्न कर देते हैं। सरकारें जो हिंसा कर सकती हैं अथवा अन्य अल्प-संख्यक लोग भी जो अधिक लोगों पर हिंसा अथवा बल का प्रयोग कर सकते हैं उसका कारण यही है कि वे अल्प-संख्यक लोग पूरी तरह सशस्त्र है और ये बहु-संख्यक लोग या तो बिलकुल निः-शस्त्र हैं या उनके पास बहुत थोड़े शस्त्र हैं।

संसार में जितने देशों की स्वाधीनता का हरण हुआ है सब इसी तरह। यूनान और रोम के विजेताओं ने इसी तरह दूसरे देशों को पदा-क्रान्त किया था। इसी तरह इंग्लैंड के विजेता पहले विलियम ने भी किया था। पिजारो को भी इसी कारण विजय मिली और आज अफ्रीका और

एशिया के निवासियों की स्वाधीनता भी इसी तरह हरण की जा रही है। शान्ति के समय भी सभी सरकारें इसी प्रकार अपने अधीनस्थ लोगों को दबाये रखती हैं।

पहले की तरह अब भी एक जाति दूसरी जाति पर इसीलिए राज्य कर सकती है कि एक सशस्त्र है और दूसरी निःशस्त्र।

पुराने जमाने में क्या होता था? अपने अगुआओं की सरदारी में लड़ाका लोग निहत्थे अरक्षित देश-वासियों पर टूट पड़ते थे, उनको दीन बना देते और उन्हें लूट लेते थे। लूट का माल सब अपने-अपने साहस और निर्दयता के हिसाब से आपस में बांट लेते थे। प्रत्येक लड़ाका जानता था कि यह हिस्सा उसके लिए फायदेमन्द है। अब क्या हो रहा है? श्रमजीवियों में से कुछ लोगों को चुनकर शस्त्र और तनख्वाहें दी जाती हैं। वे अरक्षित लोगों पर हमला करते हैं, हड़तालियों पर गोलियां चलाते हैं, बलवाखोरों पर तोपें चलाते हैं, दूसरे देश के निवासियों पर चढ़ाइयां कर उन्हें जीतते और लूटते हैं और अपने परिश्रम का फल देने के लिए उन्हें मजबूर करते हैं। और यह सब करते किस लिए हैं? अपने खुद के लिए नहीं, बल्कि उन लोगों के लिए जो केवल दूर से यह सब तमाशा देखते रहते हैं, जो अपनी जान को जरा भी जोखिम में नहीं डालते।

विजेता और सरकारों के बीच फर्क सिर्फ इतना ही है कि विजेता अपने सिपाहियों को साथ लेकर स्वयं अरक्षित लोगों पर हमला करते थे। यदि ये कुछ प्रतिकार करते या किसी प्रकार उनके अधीन होने से इन्कार करते तो वे अपनी धमकियों को सच्चा कर उन्हें नाना प्रकार की यंत्रणाओं में डालते, उन्हें तलवार की धार पर उतारते या फांसी पर लटका देते थे।

सरकारें यह सब खुद नहीं करतीं। जब कुछ लोग इनके अधीन होने से इन्कार करते हैं, तब उन स्वाधीनता-प्रिय निःशस्त्र लोगों को ये सरकारें स्वयं नहीं मारतीं, या फांसी पर लटकातीं। वे यह काम दूसरों से करवाती हैं, जिनको धोखा देकर वे खासकर इसी काम के लिए पशुवत् बनाये रखती हैं और जिनको वे विशेष कर उन्हीं लोगों में से चुनती हैं जिन पर कि वे अत्याचार करना चाहती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहले हिंसा का प्रयोग व्यक्तिगत प्रयत्न था, विजेताओं के साहस, निर्दयता, चपलता के द्वारा होता था। पर अब वह कपट-व्यवहार के द्वारा होता है।

अतः पुराने जमाने की हिंसा के प्रतीकार के लिए यह आवश्यक था कि शस्त्र-बल का प्रतिकार शस्त्र-बल के द्वारा ही किया जाय। पर अब वह बात नहीं रही। देश और जातियाँ प्रत्यक्ष हिंसा-द्वारा नहीं, कपट-व्यवहार से जीती जा रही हैं, इसलिए अब इस हिंसा को रोकने के लिए हमें उस कपट की ही कलई खोल देनी चाहिए जो थोड़े-से सशस्त्र लोगों को अधिकांश लोगों पर हिंसा का आतंक जमाये रखने में सहायता करता है

इस कपट-व्यवहार का मूल यह है—वे अल्प-संख्यक लोग जो अपने पूर्वज विजेताओं से परम्परा-द्वारा विरासत में सत्ता प्राप्त करते हैं, बहु-संख्यक लोगों से कहते हैं आप लोग संख्या में हैं बहुत ज्यादा, पर आप मूर्ख और अशिक्षित हैं। आप न तो अपना शासन कर सकते हैं और न कोई समाजोपयोगी कार्य ही करने की योग्यता रखते हैं। इसलिए इन सब चिन्ताओं का भार हम लोग अपने सिर पर ले लेते हैं हम आपको विदेशी शत्रुओं से भी बचावेंगे और देश की भीतरी शासन-व्यवस्था भी सम्हाल लेंगे। न्याय के लिए अदालतें खोल देंगे, उनका आपकी तरफ से काम-काज भी हमीं चला लेंगे। आपकी सार्वजनिक

संस्थायें, पाठशालायें, सड़कें और डाक वगैरा की देख-भाल भी हमीं कर लेंगे। आपके फायदे की जितनी भी चीजें हैं हम उन सबका संचालन आपके लिए करते रहेंगे। इसके बदले में आपको केवल हमारी कुछ छोटी-छोटी मांगें पूरी करनी होंगी। एक तो आपको अपनी आय का एक छोटा-सा हिस्सा इन सब बातों के खर्च के लिए पूर्णतया हमारे अधिकार में दे देना होगा और दूसरे आप में से कुछेक लोगों को सेना में काम करना होगा जो आपकी अपनी रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। और अधिकांश लोग इसे स्वीकार कर लेते हैं। इसके लाभ-हानि का पूरा विचार करके नहीं—इसका तो उन्हें कभी पूरा मौका ही नहीं मिलता—बल्कि महज इसीलिए कि वे जन्मत: ही अपने-आपको इस परिस्थिति में पाते हैं।

कहीं कभी किसी के दिल में इसके विषय में संदेह उत्पन्न भी होता है तो वह केवल अपने ही विषय में विचार करके रह जाता है और सोचता है कि इन बातों से मैं इनकार करूँगा तो मुझे बहुत हानि उठानी पड़ेगी। प्रत्येक आदमी इन शर्तों का अपने फायदे के लिए उपयोग करने की आशा रखता है। वह सोचता है कि सरकार को अपनी आय का एक छोटा-सा हिस्सा दे देने और सेना में नौकरी करना स्वीकार कर लेने से मेरी बहुत भारी हानि नहीं होगी।

पर सरकारों के हाथों में पैसा और सिपाही आये नहीं और वे अपने वचनों को भूली नहीं। प्रजा-जनों की रक्षा और कल्याण का विचार छोड़ वे पड़ोसी राष्ट्रों को सताने का मौका ढूँढ़कर कोई लड़ाई सुलगाने की ताक में बैठी रहती हैं। प्रजा के सच्चे कल्याण की बात तो दूर रही, वे उसे उल्टा बरबाद और पतित करती हैं।

आरब्योपन्यास (Ardian Nights) में, एक मजेदार कहानी है। एक बटोही था। दुर्भाग्य-वश वह एक निर्जन द्वीप में छोड़ दिया गया। वहाँ उसे एक झरने पास एक बूढ़ा मनुष्य बैठा हुआ दिखाई दिया, बूढ़े के पैर बहुत दुबले-पतले और कमजोर दिखाई देते थे। बूढ़े ने बटोही से प्रार्थना की कि भाई ! जरा मुझे अपने कंधे पर बिठाकर इस नाले के उस पार ले चलो तो आपका बड़ा कल्याण होगा। पथिक ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर उसे अपने कंधे पर ले लिया। ज्योंही बूढ़े ने देखा कि मैं पथिक के कंधे पर अच्छी तरह बैठ गया हूँ उसने अपने पैरों के बीच पथिक की गर्दन को जोर से धर दबाया। बूढ़ा उसे किसी प्रकार छोड़ना नहीं चाहता था। अब वह ऊपर बैठे-बैठे उस पथिक को मन-माना इधर-उधर अपने घोड़े की तरह हांकने लगा। पेड़ों से पके-पके फल तोड़-तोड़ कर पथिक को बिना दिये ही आप खाने लगा और उस बेचारे को तरह-तरह की गालियां देने लगा।

धन (कर) और जन (सिपाही) के द्वारा सरकारों की सहायता करने वालों की भी ठीक यही हालत है। इस धन से सरकारें तोपें खरीदती-बनवाती हैं और किराये के सिपाही, जो केवल पशु होते हैं; तैयार करती हैं, हृदय-हीन, गुलाम-वृत्ति वाले सेना-नायक निर्माण करती हैं। और ये सेना-नायक बरसों, युगों तक उन सिपाहियों को पशु-जीवन की तालीम दे-देकर उनकी ऊँची और कोमल भावनाओं को नष्ट कर डालते हैं। जब इस तरह वे सब तैयार हो जाते हैं तब कहा जाता है कि सेना उत्तम प्रकार की तालीम पाकर तैयार हो गई। इस तालीम के मानी मनुष्य को पशु बनाना है—जो लोग इस तालीम को कुछ समय तक प्राप्त करते हैं और उसकी अधीनता में रहते हैं वे मानव-जीवन में जो-कुछ भी श्रेष्ठता

है उससे हाथ धो बैठते हैं और अपनी स्वतन्त्र विवेचना-शक्ति खो बैठते हैं तथा मनुष्य को मारने वाले यन्त्रों की भाँति अपने अफसरों के इशारे पर प्रत्येक काम बिना विचारे करने लग जाते हैं। आधुनिक सरकारों की इस धोखेबाजी का किला यही तालीम-याफ्ता फौजें हैं जिनके द्वारा वे दूसरे देशों की स्वाधीनता हरण करती हैं। इन फौजों की अपनी इच्छा-शक्ति तो होती ही नहीं। अतः जब उनके हाथों में हिंसा और हत्या का यह भीषण शस्त्र होता है, तब पशु-बल द्वारा देश को वे फौरन अपनी अधीनता में कर लेती हैं। और एक बार किसी देश या जाति की स्वाधीनता का अपहरण कर लेने पर फिर ये सरकारें उसे छोड़ने भी क्यों लगीं? तब तो वे उन्हें अपना शिकारगाह-सा बना लेती हैं। धर्म और स्वदेश-प्रेम की झूठी शिक्षा दे-देकर उनकी बुद्धि को भ्रष्ट करती हैं और ये सरकारें जो लोगों को गुलाम बनाकर उन्हें नाना प्रकार की यन्त्रणाओं में डालती हैं, अपने प्रति स्वामि-भक्ति की शिक्षा दे उन बेचारे विजितों की और भी खराबी करती हैं।

संसार के तमाम राजा, बादशाह, राष्ट्रपति फौजी तालीम को क्यों इस तरह दिल से चाहते हैं, फौज में जरा भी खलबली होते ही इनके होश क्यों उड़ जाते हैं? फौजों की देख-भाल, हलचल, परेड, जुलूसों में होने वाली कूच, और अन्य मूर्खता-पूर्ण बातों को इतना महत्त्व वे क्यों देते हैं? यह सब व्यर्थ और अहेतुक नहीं है। वे जानते हैं कि इससे फौजी तालीम हमेशा ताजी बनी रहती है और यही तालीम तो उनकी सत्ता, नहीं अस्तित्त्व की भी, जड़ है।

इन तालीम-याफ्ता फौजों की सहायता से ही सरकारें स्वयं दूर रहकर, ऐसे-ऐसे निघृ्ण अत्याचार और हत्या-काण्ड कर डालती हैं जिनकी

सम्भावना के डर मात्र से लोग उनकी अधीनता स्वीकार करने लग जाते हैं।

अतः इन सरकारों को नष्ट करने का उपाय हिंसा शक्ति नहीं, केवल इस कपट और मक्कारी की कलई खोल देना ही है। यह आवश्यक है कि लोग सरकारों के कपट-जाल को समझ लें। वे सबसे पहले यह समझ लें कि ईसाई-जगत् के किसी राष्ट्र या जाति को दूसरे राष्ट्र या जाति से रक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं। इन जातियों में जो द्वेष-भाव वर्तमान है उसको इन सरकारों ने ही उत्पन्न किया है। इन बड़ी-बड़ी फौजों की जरूरत राष्ट्रों और जातियों को नहीं बल्कि उन अल्प-संख्यक दलों को है जो लोगों पर शासन करना चाहते हैं। आम जनता के लिए तो ये फौजें उल्टी हानिकर हैं, क्योंकि यही तो उनकी स्वाधीनता को नष्ट करती हैं। लोगों को यह भी समझ लेना चाहिए कि जिस 'तालीम' की ये सरकारें इतनी कदर करती हैं, और जिसे वे इतना महत्त्वपूर्ण समझती हैं, वह एक बड़ा-से-बड़ा जुर्म है जो कि मनुष्य-प्राणी कर सकता है। सरकारों के दुष्ट हेतु का वह यथार्थ परिचय देता है।

इस फौजी तालीम के मानी हैं मानव-बुद्धि और स्वाधीनता का गला घोंटना। वह आदमी को पशु से गया-बीता बना देती है। फौजी तालीम में बड़ा आदमी ऐसे-ऐसे बुरे काम कर डालता है जो मामूली आदमी कभी नहीं कर सकता। वह तो राष्ट्रीय और रक्षात्मक युद्ध के लिए भी अनावश्यक है। बोअरों ने इस बात को अभी-अभी सिद्ध करके दिखा दिया है। उसकी आवश्यकता तो केवल उन भीषण हत्या-कांडों के लिए ही होती है जो अपने भाई-बन्दों और देश-भाइयों को मारने के लिए होते हैं, जैसा कि दूसरे विलियम ने बता दिया है।

ये सरकारें उस पथिक के कन्धे पर बैठने वाले भयंकर बूढ़े के जैसा ही बरताव कर रही हैं। बूढ़े ने उस पथिक का उपहास किया, अपमान किया, क्योंकि वह जानता था कि जबतक में इसके कन्धे पर सवार हूँ यह मेरे अधीन है।

सरकारें भी ठीक यही जघन्य व्यवहार कर रही हैं। नालायक आदमियों के ये छोटे-छोटे दल, जिनका नाम 'सरकारें' हैं और जो राष्ट्रों और जातियों पर अपना आतंक फैलाये हुए हैं, ये जनता को महज लूट-लूट कर अधिक गरीब नहीं बनाते बल्कि और भी सब से बड़ा पाप करते हैं। बचपन से देश की सन्तति की बुद्धि में कुसंस्कार डाल-डालकर उनकी मति को ही पलट देते हैं। इन सरकारों को और उनसे उत्पन्न होने वाली गुलामी को नष्ट करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उनसे इस मक्कारी को हम सब पर जाहिर कर दें।

यूजेन स्कमिट नामक किसी जर्मन लेखक ने बुडापेस्ट के 'ओन-स्टाट' नामक अखबार में एक लेख लिखा था, जिसके भाव और भाषा दोनों सत्य और साहस-पूर्ण थे अपने अधीनस्थ लोगों को सुरक्षितता का आश्वासन देंने वाली सरकारों की तुलना उसने काला ब्रियन नामक डाकूराज से की थी। काला ब्रियन अपने प्रदेश में से प्रवास करने वाले पथिकों से कहता, "यदि कुशलपूर्वक प्रवास करना चाहते हो तो इतने रुपये यहाँ रख दो।" स्कमिट पर उस लेख के लिए मुकदमा चलाया गया था, पर जूरी ने उसे दोष-मुक्त कहकर छोड़ दिया।

इन सरकारों ने हमारी बुद्धि को इस तरह चक्कर में डाल रखा है कि यह तुलना भी हमें एक अतिशयोक्ति, एक पहेली, एक मजाक-सी मालूम होती है। पर यथार्थ में यह पहेली या मजाक नहीं है। अगर इस

तुलना में कोई दोष है तो वह यही है कि इन सरकारों की करतूतें उस काला ब्रियन डाकूराज की करतूतों से कई गुनी अधिक अमानुष और हानिकर हैं। वह डाकू तो अक्सर धनिकों को ही लूटता था पर ये सरकारें अक्सर गरीबों को ही लूटती हैं, और धनवानों में भी उन्हीं की रक्षा करती हैं जो इन अपराधों में उसकी सहायता करते हैं। डाकू यह सब करते हुए अपनी जान जोखिम में डालता था; पर ये सरकारें तो तनिक भी जोखिम नहीं उठातीं, इनकी तमाम करतूतें धोखेबाजी से भरी हुई हैं। डाकू किसी को अपने दल में शामिल होने के लिए मजबूर नहीं करता था, पर ये सरकारें तो लोगों को सिपाही बनने के लिए मजबूर भी करतीं हैं। डाकू को जो लोग कर देते थे, सबको एक-सी सुरक्षितता का काम मिलता था; पर इन सरकारों के राज्य में तो जितना ही कोई उनकी इस सुसंगठित धोखेबाजी में सहायता करता है उसे केवल उतनी सुरक्षितता ही नहीं बल्कि इनाम-इकराम भी मिलते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि बादशाह, राजा, और राष्ट्रपति आदि की (मय उनके शरीर-रक्षकों के) रक्षा की जाती है। और वे ही उस धन का सबसे बड़ा हिस्सा खर्च कर सकते हैं जो करों के रूप में लोगों से इकट्ठा किया जाता है। सरकारों के इन अपराधों में शरीक होने वाले इनसे दूसरे नम्बर में हैं—सेना-नायक, मन्त्री, पुलिस-विभाग के प्रधान कर्मचारी, और गवर्नर से लेकर पुलिस के मामूली-से-मामूली सिपाही तक जो सबसे कम सुरक्षित और सबसे कम तनख्वाह पाते हैं। इधर जो सरकारों के अत्याचारों और अपराधों में उनका साथ नहीं देते, उनको नौकरी करने, कर देने, अदालतों में जाने, आदि से इनकार करते हैं, उन पर हिंसा का प्रयोग किया जाता है, जैसा कि डाकू लोग करते हैं। डाकू जान-बूझकर लोगों में दुर्गुण का प्रचार नहीं करते,

पर सरकारें अपना मतलब साधने के लिए बचपन से लेकर बड़े होने तक लोगों में झूठे धार्मिक और मूर्खतापूर्ण स्वदेश-प्रेम के संस्कारों को भर-भर कर बिगाड़ती रहती हैं। पर यह तो कुछ नहीं के बराबर है। निर्दय-से-निर्दय डाकू—स्टेंका रेजीन और कार्टूक की भी इन दुष्ट सरकारों की दुष्टता, निर्दयता, और यन्त्रणायें देने के नवीन-नवीन तरीके ढूंढने की शक्ति के साथ तुलना नहीं की जा सकती। उस भयंकर जान. ग्यारहवें लुई, और एलिजाबेथ के जमाने के महा दुष्ट राजाओं की तो मैं बात ही नहीं करता हूँ। मैं तो हमारी इन सुधरी हुई सुव्यवस्थित 'उदार'—चेता सरकारों की बात कह रहा हूँ जिनके यहां कैदियों के लिए काल-कोठरियां हैं, जो बड़ी-बड़ी नियम-बद्ध फौजें रखती हैं, बलवाइयों को दबाती हैं और महायुद्धों में उनकी हत्यायें करती हैं।

सरकार और इन गिरजाघरों के प्रति मनुष्य के हृदय में सिवा भक्ति या तिरस्कार के भाव के दूसरी कल्पना ही नहीं आ सकती। जब तक आदमी सरकारों और गिरजाघरों की असली स्थिति को नहीं जान लेता तबतक उसके हृदय में बराबर उन संस्थाओं के प्रति भक्ति ही बनी रहेगी; जबतक उन्हें वह अपना पथ-प्रदर्शक समझता रहेगा उसका दम्भ उसके लिए यह आवश्यक कर देता है कि उसको रास्ता दिखानेवाली चीजें अवश्य ही अनादि, महान् और पवित्र हैं। पर जिस क्षण वह समझ लेता है कि उसको मार्ग दिखाने वाली चीजें सचमुच अनादि, महान् और पवित्र नहीं, बल्कि नाजायक लोगों का दल है, जो मनुष्य को रास्ता बताने के बहाने अपने नीच स्वार्थ के लिए उसका उपयोग करते हैं, बस उसी क्षण इन लोगों के प्रति उसके हृदय में घोर तिरस्कार उत्पन्न हो जायगा। अपने जीवन के जितने महत्त्वपूर्ण हिस्से में इनके चक्कर में वह आया होगा

उतने ही जोरों से वह इनका तिरस्कार करने लगेगा।

जब लोग सरकारों की असलियत को समझ लेंगे तब तो उनके दिलों में भी वह भाव उठे बिना नहीं रह सकता।

लोगों के दिल में यह बात जम जानी चाहिए कि उनका सरकारों के अपराधों में हाथ बटाना, जैसा कि वे समझते हैं, एक उपेक्षा-योग्य बात नहीं है। सरकारों की नौकरी करना, उन्हें कर देना, उनकी फौजों में भरती होना आदि बातें उपेक्षा-योग्य नहीं हैं। इनके मानी हैं सरकारों के द्वारा अविरत होने वाले और तालीम-याफ्ता फौजों की सहायता से आगे किये जाने वाले पापों में प्रत्यक्ष सहायता करना—स्वयं अपने भाइयों और बहनों के विनाश में सहायक होना।

भले ही सरकारें अपनी स्थिति को मजबूत बनाये रखने के लिए लोगों की बुद्धि में भ्रम डालती रहें, अब उनकी भक्ति और आदर का जमाना तेजी से बीत रहा है। लोगों को अब यह जान लेने का समय आगया कि सरकारें न केवल अनावश्यक हैं बल्कि हानिकर और अत्यन्त अनीतियुक्त संस्थायें हैं, जिनकी करतूतों में एक प्रामाणिक और स्वाभिमानी मनुष्य कभी भाग नहीं ले सकता और न उसे लेना ही चाहिए। वह न कभी उनसे होने वाले फायदों का लाभ ही उठा सकता है और न उसे उठाना ही चाहिए।

ज्योंही लोग इस कथन की यथार्थता को समझ लेंगे त्योंही वे स्वभावतः ऐसे कार्यों में भाग लेना अर्थात् सरकारों को सिपाही और धन-द्वारा सहायता करना बन्द कर देंगे। केवल जनता के अधिकांश हिस्से ने उन्हें सहायता देना बन्द किया नहीं कि वह धोखेबाजी, जो लोगों को गुलाम बनाये हुए है, नष्ट नहीं हुई।

लोगों को गुलामी से मुक्त करने का यही एक-मात्र उपाय है।

: १४ :

प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य

कई लोग अब तक जिस स्थिति में रहते आये हैं उसके आदी हो गये हैं। अतः अपनी स्थिति का बदलना या तो वे असम्भव मानते हैं अथवा असम्भव न मानकर भी बदलना नहीं चाहते। वे कहेंगे, "पर यह तो सर्व-साधारण तौर से विचार हुआ। विचार-शैली सही हो या गलत, पर जीवन में इन पर अमल तो कदापि नहीं हो सकता।"

संपन्न वर्ग के लोग कहते हैं—"हमें यह बताओ कि करना क्या चाहिए, अब समाज का संगठन किस तरह करना चाहिए?"

गुलामों के मालिक अपनी स्थिति के इतने आदी हो गये हैं कि जब इन्हें श्रमजीवियों की हालत सुधारने के लिए कहा जाता है तब वे एक-दम अपने गुलामों के लिए कितनी ही योजनायें गढ़ने में लग जाते हैं; पर उन्हें यह कभी खयाल नहीं होता कि अपने ही भाई-बन्दों का भाग्य-विधायक बनने का हमें क्या हक है? और यदि वे सचमुच उनका कल्याण करना चाहते हैं, तो उसका सबसे सरल और एक-मात्र उपाय तो यही है कि जिस बुराई को वे कर रहे हैं उसे छोड़ दें। यह बुराई तो बिल-

नहीं लेते हैं। वे तो उस बुराई को छोड़ना भी नहीं चाहते बल्कि उल्टे इस तरह लोगों से जबरदस्ती परिश्रम करने की प्रथा का समर्थन कर प्रतिष्ठित कर देना चाहते हैं। यही बुराई है। बस इसे ही उन्हें बन्द कर देना चाहिए।

श्रमजीवी लोगों की बुद्धि भी इस गुलामी से ऐसी भ्रष्ट हो गई है कि यदि उनको अपनी स्थिति खराब मालूम होती है तो वे सोचते हैं कि यह तो उनके मालिकों का दोष है। जो उन्हें बहुत कम वेतन देते हैं और उत्पादक साधन अपने हाथों में रखते हैं। उन्हें कभी यह नहीं सूझता कि उनकी दुर्दशा का कारण स्वयं वे ही हैं, न उन्हें यही सूझता है कि वे अपना, अपने भाइयों का भला चाहते हैं तो केवल उन्हें अच्छे-से-अच्छे काम करने चाहिएं बल्कि पहले स्वयं ही इस बुरे काम को छोड़ देना चाहिए जिससे उनकी इतनी दुर्दशा हो रही है। कैसा आश्चर्य है कि वे उन्हीं बातों के द्वारा अपनी आर्थिक अवस्था सुधारना चाहते हैं कि जिसके कारण वे इस गुलामी में फँस गये हैं। श्रमजीवी अपनी बुरी आदतों से लाचार हो अपनी मनुष्यता और स्वाधीनता को तिलांजलि देकर, नीच अनीति-युक्त नौकरियाँ करते फिरते हैं। अथवा अनावश्यक हानिकार चीजें बनाते फिरते हैं। सबसे बुरी बात यह कि कर वगैरा देकर या प्रत्यक्ष नौकरी करके वे सरकारों को चलाते हैं और अपनी स्वाधीनता को भी खोकर गुलाम बनते हैं।

यदि हम अपनी दशा सुधारना चाहते हैं तो श्रमजीवी तथा संपन्न वर्ग को भी यह जान लेना चाहिए कि केवल अपने-अपने स्वार्थ पर दृष्टि रखने से ही काम न चलेगा। सेवा त्याग पर निर्भर है। अतः लोग यदि सचमुच केवल अपना ही नहीं वरन अपने भाइयों का भी कल्याण चाहते

हैं तो उन्हें वह जीवन-शैली छोड़ देनी चाहिए। जिसके कि वे अबतक आदी बने हुए हैं। इनता ही नहीं बल्कि अब तक उन्हें जो लाभ हो रहे थे उनको भी तिलांजलि देने को उद्यत हो जाना चाहिए। उन्हें तैयार हो जाना चाहिए कि एक भीषण युद्ध के लिए सरकारों के खिलाफ नहीं, अपने और अपने प्रियजनों की कमजोरियों और अपूर्णताओं के खिलाफ और सरकार की आज्ञाओं की अवज्ञा के पुरस्कार में जो-जो कठिनाइयाँ आवें उनका सामना करने के लिए।

इसलिए इस प्रश्न का उत्तर कि हमें क्या करना चाहिए ?, अजहद सरल और निश्चित है। इतना ही नहीं, बल्कि प्रत्येक मनुष्य के लिए अधिक-से-अधिक योग्य और व्यावहार्य है। पर स्मरण रहे कि वह ठीक वैसा नहीं जैसा कि सम्पन्न वर्ग और श्रमजीवी चाहते हैं। सम्पन्न लोग समझते हैं कि हम तो दूसरों की गलतियाँ सुधारने के लिए हानियुक्त हुए हैं, (अपनी नहीं, क्योंकि अपने को तो वे पहले ही से सर्वगुण-सम्पन्न मान लेते हैं)। उधर श्रमजीवी सोचते हैं, नहीं अपनी इस दुरवस्था का कारण स्वयं हम नहीं (वल्कि पूँजीपति) हैं। वे सोचते हैं कि हमारी हालत तो तभी अच्छी हो सकती है जब हम पूँजीपतियों से वे सब वस्तुयें लें जिनका उपयोग वे कर रहे हैं और किसी प्रकार ऐसा नियम कर दें जिससे आज जो सुविधायें केवल धनिकों को ही नसीब होती हैं सबको मिलने लग जायं। यह खयाल भ्रम-पूर्ण है। मैं जो सूचित करना चाहता हूँ वह इसीसे बिलकुल भिन्न है औरसब के लिए एक-सा उपयोगी और व्यावहार्य है,क्योंकि वह सूचना केवल उसी व्यक्ति से काम लेने को कहती है। जिस पर हममें से प्रत्येक का उचित और पूर्ण अधिकार है। यह व्यक्ति है स्वयं उसका शरीर सूचना यही है कि यदि मनुष्य केवल अपनी नहीं वरन अपने भाइयों की

दशा सुधारना चाहता है तो उसे वे बातें नहीं करनी चाहिए जो उसे या उसके भाइयों को गुलाम बनाने वाली हों। इसलिए स्वयं उसे तथा उसके भाइयों को दुर्दशा में डालने वाले कार्यों से बचने के लिए मनुष्य को न तो स्वेच्छा से और न मजबूर करने पर सरकार के किसी काम में भाग लेना चाहिए। वह न तो सिपाही, न फील्ड मार्शल और न राज्य का प्रधान-मंत्री बने। वह सरकार का भी कर इकट्ठा न करे, न गवाह बने और न उसका न्यायाधीश, पंच, गवर्नर, पार्लमिएट का सदस्य अथवा हिंसा से सम्बन्ध रखने वाला कोई पद धारण करे। यह हुई एक बात।

दूसरे, वह मनुष्य प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से कभी सरकार को स्वेच्छा से कर न दे; न सरकारी कर के रूप में इकट्ठे किये हुए धन का वह स्वयं ही उपयोग करे, फिर वह उसे तनख्वाह के रूप में मिलता हो या पेन्शन या इनाम के रूप में; वह कभी सरकारी संस्थाओं का उपयोग न करे क्योंकि वे भी जनता पर जुल्म करके इकट्ठा किये गए धन की सहायता से ही चलाई जाती हैं। यह हुई दूसरी बात।

तीसरे, यदि मनुष्य केवल अपना नहीं बल्कि सर्व-साधारण का कल्याण चाहता है तो उसे अपनी जमीन-जायदाद तथा अपने तथा अपने प्रिय-जनों की रक्षा के लिए सरकार से अपील नहीं करनी चाहिए। वह केवल उतनी ही जमीन और अपने तथा दूसरों के परिश्रम से उत्पन्न की चीजें रखे जिनके लिए दूसरे लोग किसी प्रकार उससे दावा न करते हों।

यह सुनकर लोग कहेंगे "यह तो असम्भव है, सरकार के सभी कामों में भाग लेने से इन्कार करना मानो जीने से इन्कार करना है। यदि आदमी सिपाही बनने से इन्कार करेगा, फौरन जेल में ठूंस दिया जायगा, यदि मनुष्य कर देने में आनाकानी

करेगा तो उसे सजा होगी, और उसकी जायदाद से कर वसूल कर लिया जायगा। जिस मनुष्य की आजीविका का कोई दूसरा साधन नहीं है वह यदि सरकारी नौकरी करने से भी इन्कार कर दे तो वह बाल-बच्चों सहित भूखों मर जायगा। वही हालत उस आदमी की भी होगी जो सरकार से मिलने वाली सुरक्षितता को अस्वीकार करेगा। सरकारी संस्थाओं का तथा उन वस्तुओं का जिन पर सरकार के द्वारा कर लगाया गया है उपयोग करने से इन्कार करना भी असम्भव है क्योंकि अक्सर तमाम आवश्यक वस्तुओं पर सरकार ने कर लगा ही तो रखा है। उसी प्रकार सड़कें, डाक आदि सरकारी संस्थाओं का उपयोग करने से आदमी कैसे इन्कार कर सकता है?

निःसन्देह यह सत्य है कि इस जमाने में सरकार की हिंसा में भाग लेने से इन्कार करना मनुष्य के लिए बहुत कठिन है। यह ठीक है कि प्रत्येक मनुष्य अपना जीवन इस तरह नहीं निबाह सकता कि वह सर्वांश में सरकारी हिंसा से अछूता रहे। पर इसके मानी यह तो कदापि नहीं कि वह ऐसा शनैः-शनैः भी नहीं कर सकता। मैं मानता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं होती कि वह अनिवार्यतः सेना में भरती होने की आज्ञा से इन्कार कर दे (यद्यपि ऐसे आदमी हैं और आगे भी होंगे) तथापि प्रत्येक मनुष्य स्वेच्छा-पूर्वक सेना, पुलिस-दल, न्याय, और मुल्की नौकरी में भरती होने से तो जरूर इन्कार कर सकता है। ऊंची तनख्वाह वाली सरकारी नौकरी के बजाय कम तनख्वाह वाली किसी खानगी नौकरी को तो वह जरूर पसंद कर सकता है। मैं मानता हूँ कि प्रत्येक आदमी अपनी जमीनों को तो नहीं छोड़ सकता (यद्यपि संसार में ऐसे भी त्यागी पुरुष हैं) पर ऐसी जायदाद की अन्याय्यता और अनौचित्य को स्वीकार

करते हुए वह उसको यथा-सम्भव कम तो अवश्य कर सकता है। मैं यह भी मानता हूँ कि प्रत्येक आदमी न तो अपनी सम्पत्ति का और न अपनी उपयोगी चीजों का एकाएक त्याग कर सकता है (यद्यपि संसार में ऐसे लोग भी हैं) तथापि अपनी आवश्यकताओं को घटाकर लोगों के हृदय में ईर्ष्या और लोलुपता उत्पन्न करने वाली चीजों के संग्रह को यथा-सम्भव कम तो जरूर कर सकता है। यह भी सत्य है कि प्रत्येक पदाधिकारी सरकारी नौकरी का त्याग भी नहीं कर सकता (यद्यपि ऐसे कितने ही पुरुष हैं जो अप्रामाणिक सरकारी नौकरी करने के बजाय भूखों रहना पसन्द करते हैं) पर हिंसा के उत्तरदायित्व से यथा-सम्भव बचने के लिए वह अधिक तनख्वाह वाली नौकरी को छोड़कर कम तनख्वाह पर काम करना तो अवश्य स्वीकार कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य सरकारी पाठशाला का उपयोग करने से भी इन्कार नहीं कर सकता (यद्यपि ऐसे लोग हैं) पर सरकारी स्कूलों के बजाय प्रत्येक मनुष्य यथासम्भव खानगी पाठशालाओं का उपयोग भी कर सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को घटाकर साथ ही परिग्रह को भी कम कर सकता है और सरकारी संस्थाओं से भी यथाशक्ति दूर रह सकता है।

दो जुदी-जुदी स्थितियां है। एक तो पशु-बल पर प्रस्थापित वर्तमान अवस्था और दूसरा ज्ञान-युक्त और आचार-द्वारा प्रस्थापित एकता वाले समाज का आदर्श। धीरे-धीरे मानव-समाज पहली स्थिति से दूसरी की ओर चढ़ रहा है और इन दोनों के बीच में अनंत सीढ़ियाँ हैं। ज्यों-ज्यों हम उस हिंसा में भाग लेने, उससे लाभ उठाने और उसके आदी बनने से अपने को बचाते रहेंगे त्यों-त्यों और उसी परिमाण में उस आदर्श की तरफ बढते जावेंगे।

हम यह नहीं जानते और न उन झूठे वैज्ञानिकों के समान भविष्य कथन ही कर सकते हैं कि किस प्रकार ये सरकारें कमजोर होंगी और किस तरह लोग स्वाधीन होंगे। न हम यही जानते हैं कि उस स्वाधीनता के मार्ग में चलते-चलते मनुष्य-समाज किन-किन अवस्थाओं में से गुजरेगा। पर हम यह जरूर मानते हैं कि जो शख्स सरकार की करतूतों की अपराध्यता तथा हानिकरता को पूर्णतः समझकर उनका उपयोग करने या उनमें भाग लेने से इन्कार करने का प्रयत्न करेंगे उनका जीवन बिलकुल भिन्न होगा। वह वर्तमान जीवन की अपेक्षा, जिसमें लोग सरकारी हिंसा में भाग लेते हुए, उनका लाभ उठाते हुए सरकारों के खिलाफ झगड़ने का बहाना करते हैं और नई हिंसा के द्वारा पुरानी हिंसा को नष्ट कर देना चाहते हैं, जीवन के नियमों और सदसद्विवेक बुद्धि के कहीं अधिक अनुकूल होगा।

मुख्य बात यह है कि हमारा वर्तमान जीवन बहुत बुरा है। इस पर सभी सहमत हैं। वर्तमान दुर्दशा का और गुलामी का कारण है हिंसा, जिसका उपयोग तमाम सरकारें करती हैं। इस हिंसा को नष्ट करने का एक-मात्र उपाय है उसमें भाग लेने से इन्कार कर देना। अतः यह प्रश्न व्यर्थ है कि सरकारी हिंसा में भाग लेने से इन्कार करना सरल है या कठिन अथवा उसका फल हमें शीघ्र मिलेगा या देर से; क्योंकि लोगों को गुलामी से मुक्त करने का केवल वही एक उपाय है, दूसरा है नहीं।

हिंसा का उन्मूलन कर मानव-समाज अहिंसा और प्रेम-धर्म को प्रत्येक जाति और देश-भर में कब प्रतिष्ठित कर देगा, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। लोग जितने अंशों में, जितनी ही अधिक संख्या में और जितनी ही अधिक शक्ति के साथ इस तत्त्व को समझेंगे उतनी

ही उस आदर्श की तरफ हमारी गति तेज होगी। हममें प्रत्येक आदमी अलग-अलग है। प्रत्येक आदमी अपनी थोड़ी या अधिक जागृति के अनुसार थोड़े या अधिक परिमाण में इस मानवोपकारी आन्दोलन की प्रगति में सहायक या बाधक हो सकता है। प्रत्येक को दो में से एक रास्ता चुनना होगा। या तो वह परमात्मा की इच्छा के खिलाफ बालू पर अपने चार दिन के मायाधीन जीवन का नाशमान् घर बना ले या वह परमात्मा के आदेश के अनुसार सच्चे जीवन के अमर आन्दोलन में शरीक हो जाय।

पर शायद मैं गलती करता हूँ। मानव-इतिहास का अवलोकन करने से शायद हम इस नतीजे पर नहीं पहुँचते। शायद मानवता गुलामी से आजादी की तरफ न भी बढ़ रही हो। शायद यह भी सिद्ध कर दिया जा सके कि हिंसा प्रगति का एक आवश्यक अङ्ग है। शायद यह भी सिद्ध हो जाय कि ये हिंसात्मक सरकारें भी मानव-समाज का एक आवश्यक अङ्ग हैं और यदि सरकारें नष्ट हो गईं तथा लोगों के जानो-माल की रक्षा का साधन नष्ट कर दिया गया तो मनुष्य जाति की बड़ी दुर्दशा होगी।

हम यह मान लेते हैं कि शायद यही बात सच हो और कहते हैं कि शायद हमारा अबतक का कथन भ्रमपूर्ण हो। पर मानव-समाज के सामान्य विचार के अतिरिक्त मनुष्य को अपनी व्यक्तिगत भलाई-बुराई के प्रश्न का भी तो विचार करना पड़ता है न? मानव-समाज के जीवन-सम्बन्धी सामान्य नियम जो कुछ भी हों मनुष्य वह बात तो कदापि नहीं कर सकता जिसे वह केवल हानिकारक ही नहीं, बल्कि अन्याय्य समझता है।

बहुत सम्भव है कि विचार-शैली इतिहास से सिद्ध हो सकती हो कि व्यक्तिगत और सरकारी हिंसा का विकास एक शासन-संस्था (राज्य) है

और शायद वह सत्य भी हो, पर हमारे जमाने का प्रामाणिक और शुद्ध हृदय वाला आदमी कहेगा—"इन सब तर्कों को मैं नहीं मानता। वे सच हों या झूठ। मैं तो यह अच्छी तरह जानता हूँ कि खून-खराबी बुरी बात है और मुझे सेना में भरती होने के लिए कहकर फौज खड़ी करने और उसे तैयार करने अथवा तोपें खरीदने और जंगी जहाज बनाने के लिए मुझ से धन माँगकर आप मुझे उस खून-खच्चर में शरीक करना चाहते हैं। पर न तो मैं यह कर सकता हूँ और न करूँगा ही। मैं उस धन का उपयोग करना भी नहीं चाहता जो अपने गरीब भूखे लोगों से खून करने की धमकियाँ दे-दे कर एकत्र किया है और न आगे कभी उसका उपयोग करूँगा। आपके द्वारा सुरक्षित जमीन और जायदाद को भी मैं रखना नहीं चाहता; क्योंकि मैं जानता हूँ कि आपकी यह रक्षा खून और हत्या पर निर्भर है।

"ये सब बातें मैं तबतक कर सकता था जबतक कि मैं उनकी बुराई नहीं समझ पाया था। पर एक बार उस बुराई को देख लेने पर अब मैं न तो अपनी तरफ से आँखें मूँद सकता हूँ और न इन बुराइयों में भाग ले सकता हूँ।

"मैं जानता हूँ कि इस हत्यारी व्यवस्था-द्वारा हम इस कदर जकड़ दिये गए हैं कि इससे पूरी तरह बच निकलना अत्यन्त कठिन है। फिर भी इसमें भाग न लेने के लिए मैं अपनी शक्ति-भर कोशिश करूंगा। मैं इस हत्या में शरीक नहीं हो सकता और इस बात का प्रयत्न करूंगा, कि खून और हत्या की धमकियाँ दे-देकर जो भी कुछ प्राप्त किया जाता है और सुरक्षित रखा जाता है। उसका कभी उपयोग न करूंगा। मेरे तो केवल एक ही जान है, फिर मैं अपनी इस संक्षिप्त—

चार दिन की—जीवन-यात्रा में अपनी आत्मा की आवाज के खिलाफ कोई काम क्यों करूं और क्यों आपकी इन भयंकर करतूतों में शरीक होऊँ? यह मैं नहीं कर सकता और न करना चाहता ही हूं।

"और इसका नतीजा क्या होगा? मैं नहीं जानता। मैं तो केवल इतना जानता हूँ कि अपनी अंतरात्मा की आज्ञा के अनुसार काम करने से कोई अ-कल्याण और अ-मंगल नहीं होगा।"

इस तरह हमारे जमाने के प्रत्येक प्रामाणिक और शुद्ध हृदय वाले आदमी को उन तमाम दलीलों के जवाब में उत्तर देना चाहिए जो सरकारों की तथा हिंसा की आवश्यकता को सिद्ध करने का प्रयत्न करती हैं। उस भयंकर काम में शरीक होने के लिए जो आज्ञायें और निमन्त्रण दिये जायँ उनके उत्तर में भी उसे यही साफ-साफ कह देना चाहिए।

इस तरह हम अपनी बुद्धि की सहायता से तर्क करते हुए जिस नतीजे पर पहुँचते हैं उनका समर्थन और पुष्टि प्रत्येक मनुष्य की अन्तरात्मा भी करती है जो सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि प्रामाण्य है।

: १५ :

अन्तिम कथन

उपर्युक्त कथन को पढ़कर कितने ही लोग कहेंगे---"पर यह तो वही पुराना पुराण है। एक ओर तो आप वर्तमान व्यवस्था का विनाश करने का आग्रह कर रहे हैं, उसके स्थान पर कोई दूसरी व्यवस्था नहीं बताते और दूसरी ओर अकर्मण्यता का उपदेश करते हैं। सरकार की करतूतें खराब हैं। वही हालत जमींदारों; पूँजीपतियों, साम्यवादियों और क्रांतिकारी अराजक दलों की भी है। अर्थात् सभी व्यावहार्य कार्य खराब हैं। केवल एक प्रकार की नैतिक, आध्यात्मिक, अनिश्चित हलचल जिसका नतीजा घोर अव्यवस्था और अकर्मण्यता है, अच्छी है।" मैं जानता हूँ कि अनेक गम्भीर और शुद्ध हृदय के लोग भी शायद यही सोचेंगे और कहेंगे।

अहिंसा से लोग चौंकते क्यों हैं। इसलिए कि अहिंसा के राज्य में उनकी सम्पत्ति अरक्षित रहेगी। प्रत्येक मनुष्य दूसरे से वह प्रत्येक वस्तु ले सकेगा जिसकी उसे आवश्यकता होगी अथवा जिसे वह महज पसन्द करेगा और उसको कोई सजा न होगी। हिंसा द्वारा जान और माल की रक्षा के जो लोग आदी हो गये वे सोचते हैं कि ऐसी रक्षा के अभाव में

समाज में हमेशा अव्यवस्था और पारस्परिक संघर्ष का लीला-स्थल बना रहेगा।

मैं पीछे समझा चुका हूँ कि हिंसा के बल पर जानो-माल की जो रक्षा की जाती है उससे यह अव्यवस्था और संघर्ष घटता नहीं, बल्कि उल्टा बढ़ता ही है; इस बात के समर्थन में अब मैं उन तमाम युक्तियों को नहीं दोहराऊँगा, पर मैं क्षण-भर मान लेता हूँ यदि अहिंसा-नीति के फलस्वरूप समाज में अव्यवस्था भी हो जाय तो उस हालत में उन लोगों को क्या करना चाहिए जो उन संकटों के मूल कारणों को समझ गये हैं ?

यदि हम जानते हैं कि शराबखोरी के कारण हम बीमार हो गये हैं तो हमें (इस आशा से भी कि शराब की मात्रा घटा देने से हम अच्छे हो जायेंगे) शराब न पीते रहना चाहिए। न हमें अदूरदर्शी डाक्टरों की दवा लेकर ही शराब पीते रहना चाहिए।

यही बात हमारे सामाजिक रोग की भी है कि कुछ लोग दूसरों के प्रति हिंसा का प्रयोग करते हैं। इसलिए सरकारी हिंसा का समर्थन कर अथवा उसके स्थान पर क्रान्तिकारी अराजक व साम्यवादियों की हिंसा को प्रतिष्ठित करके हम समाज की दशा सुधारने की आशा नहीं कर सकते। यह तब तक हो सकता था जब तक कि जनता की दुरवस्था के मूल-भूत कारण को हमने स्पष्ट रूप से नहीं देखा था। पर इस बात के निश्चित रूप से प्रत्यक्ष करने पर कि एक दल द्वारा दूसरे दल पर अत्याचार होने के कारण ही समाज की यह दुर्दशा हो रही है, हमारे लिए यह असम्भव है कि हम पुरानी हिंसा को कायम रखें या उसके स्थान पर दूसरी नवीन प्रकार की हिंसा को प्रतिष्ठित कर दें। शराबखोरी से बीमारियों के शिकार बने आदमी के लिए उन बीमारियों से छूटने का केवल यही

उपाय है कि वह बीमारियों के मूल कारण—शराब को— छोड़ दे। उसी प्रकार समाज को इस दुरवस्था से मुक्त करने का भी एक-मात्र उपाय यही है कि हम हिंसा से, जो कि इस बुराई और दुःखों का कारण है, बाज आवें, उसका प्रचार न करें और न उसका समर्थन करें।

अहिंसा का अवलम्बन करने का केवल यही कारण नहीं है कि वह हमारी तमाम सामाजिक बुराइयों का एक-मात्र रामबाण उपाय है, बल्कि हमारे जमाने के प्रत्येक मनुष्य के नैतिक सिद्धांत के वह पूरी तरह अनु-कूल भी। यदि इस जमाने का आदमी इस बात को एक बार समझ ले कि उसकी जान या जायदाद की रक्षा हत्या या हत्या के भय के आधार पर की जा रही है तो वह फिर कभी आत्मिक शान्तिपूर्वक उन चीजों का उपयोग न कर सकेगा जो हत्या या हत्या के भय-प्रदर्शन द्वारा उसे प्राप्त हुई हैं। फिर वह उन हत्याओं अथवा हत्या के भय-प्रदर्शन में भी क्यों भाग लेने चला ? अतः जन-साधारण को दुःखों से मुक्त करने के लिए जिस तत्त्व (अहिंसा) की आवश्यकता है वही प्रत्येक मनुष्य को आत्मिक शान्ति के लिए भी परमावश्यक है। इसलिए इस बात में अब प्रत्येक मनुष्य को कभी सन्देह नहीं होना चाहिए। उसका कर्त्तव्य है कि वह अपने तथा समाज के कल्याण का खयाल कर हिंसा में भाग न ले, उसका समर्थन न करे और न उसका उपयोग ही करे।